श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी

-: लेखक :-

पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

-: संपादक :-

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

श्री भद्रंकर-प्रश्नोत्तरी

卐 **समाधानदाता** 卐

परम शासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति, दीक्षा युग प्रवर्त्तक पूज्यपाद
आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न
बीसवीं सदी के महान योगी, सूक्ष्म तत्त्व चिंतक
पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**

卐 **हिन्दी संपादक** 卐

मरुधर रत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्यपाद
आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

241

卐 **प्रकाशन** 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 8484848451 (only whatsapp)

हिन्दी आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 170/- रुपये • **प्रतियाँ :** 1000
दि. 5-6-2024 • **विमोचन स्थल :** वडगांव (राजस्थान)
. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से....

परम शासन प्रभावक, जैन शासन के महान् ज्योतिर्धर **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी, नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक चिंतक एवं अनुप्रेक्षक भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** श्री द्वारा आत्मदिन एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में संपादित 241 वीं पुस्तक **'श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी'** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

नवकार महामंत्र के बेजोड साधक **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य म.** सूक्ष्म प्रज्ञा के धनी थे।

उन्होंने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा के बल पर तत्त्व जिज्ञासुओं की शंकाओं का खूब सुंदर समाधान किया है।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास हैं कि प्रस्तुत प्रकाशन तत्त्व पिपासुओं को शांत करने में सक्षम होगा।

अनुवादक-संपादक की कलम से....

नमस्कार महामंत्र ही जिनकी अंतरात्मा का सुमधुर संगीत बन चुका था...जो सदा महामंत्र की अनुप्रेक्षा में तल्लीन रहते थे...जिन्होंने पंच-परमेष्ठी के चरणों में अपना आत्म-समर्पण कर दिया था...जो योगी-पुरुष थे... आत्मसाधक थे, नमस्कार महामंत्र और जीव-मैत्री ही जिनका जीवन-सूत्र था, ऐसे विश्ववत्सल कृपानिधि अध्यात्मयोगी परम गुरुदेव पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के पुण्य नाम से कौन अपरिचित होगा ?

संवत् 1987 से 2036 की अर्द्धसदी के संयम-जीवन में आपने नमस्कार महामंत्र पर गहनतम चिंतन व अनुप्रेक्षा कर, उससे प्राप्त दोहन, जैनशासन को समर्पित किया है ।

'नमस्कार महामंत्र' 'परमेष्टि-नमस्कार', 'अनुप्रेक्षा, 'नमस्कार-दोहन' तथा **नमस्कार-मीमांसा** इत्यादि साहित्य जैनशासन को समर्पित कर आपने जैनशासन की महती सेवा की है ।

नमस्कार महामंत्र शब्ददृष्टि से भले ही छोटा है, किंतु अर्थ का तो वह सागर है । सागर में से कोई कितना ही पानी निकाल ले, क्या वह खाली हो सकता है ? कदापि नहीं । बस ! इसी प्रकार नमस्कार-महामंत्र भी अर्थदृष्टि से महान् सागर है ।

पूज्यपाद गुरुदेवश्री ने अपना अधिकांश जीवन नमस्कार-महामंत्र के जाप, ध्यान, चिंतन, अनुप्रेक्षण आदि में ही व्यतीत किया था । नमस्कार महामंत्र के चिंतन के अथाह सागर में से उन्होंने जो कुछ पाया, वह जिनशासन के चरणों में पुनः समर्पित कर दिया ।

जन्म-जन्मांतर की विशिष्ट आराधना-साधना के फल स्वरुप अध्यात्मयोगी, निःस्पृहशिरोमणि सूक्ष्म तत्त्व चिंतक, बीसवीं सदी के महान् योगी पूज्यपाद योगीराज पंन्यास प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** श्री को

बचपन से ही ऐसी सूक्ष्म-प्रज्ञा का क्षयोपशम प्राप्त हुआ था कि वे तात्त्विक प्रश्नों का युक्तिगम्य समाधान प्रदान कर सकते थे ।

संयम जीवन के प्रारंभिक काल में ही उनके द्वारा गुजराती भाषा में आलेखित **नमस्कार महामंत्र, धर्म श्रद्धा, प्रतिमा पूजन, देवदर्शन** आदि पुस्तकों में उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा के साक्षात् दर्शन होते है ।

उन पुस्तकों में अनेक प्रश्नों के योग्य समाधान दिए है ।

बाल जीवों को अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में शंकाएं होना स्वाभाविक है ।

जब तक मन के भीतर रही उन शंकाओं का योग्य समाधान नहीं होता हैं, तब तक जिनवचनों पर संपूर्ण श्रद्धा पैदा नहीं होती है ।

धर्म का मूल ही सम्यग्दर्शन हैं जिनवचन में शंका हमारे सम्यक्त्व को मलिन बनाती हैं, अतः उन शंकाओं का योग्य समाधान खूब जरुरी है ।

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** ने अतीन्द्रिय पदार्थों के संदर्भ में बालजीवों के अन्तर्मन में पैदा होने वाली उन शंकाओं को तथा कहीं पर स्वयं शंकाएं उपस्थित कर शास्त्र आधार पर अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा के बल से योग्य समाधान किया है ।

शंकाओं का योग्य समाधान हो जाय तो जिन वचनों पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हो सकती है ।

हिन्दी भाषी पाठकों की तत्त्व जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए उन प्रश्नों का हिन्दी भाषा में भावानुवाद कर उन्हें दो भागों में विभक्त किया हैं । मुझे पूर्ण विश्वास है कि पूज्य गुरुदेवश्री की असीम दिव्य कृपा के बल से ही प्रकाशित ये पुस्तके तत्त्वपिपासुओं की तत्त्व तृषा को शांत करने का अवश्य काम करेगी ।

सीमंधरस्वामी जैन मंदिर
लोढा धाम
मुंबई-अहमदाबाद हाईवे
वसई
दि. 20-12-2023

अध्यात्मयोगी
पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री
भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी
रत्नसेनसूरि

प्रस्तावना

''प्रश्न-उत्तर एक स्वाध्याय''

सत्य के आग्रही और प्राणिओं की भाषा के जानकार महर्षि औतिथ्य । एक बार उनकी कुटिर में एक हिरण ने प्रवेश किया और पीछे पीछे शिकारी भी कुटिर में आया । वह शिकारी महर्षि औतिथ्य से कहता है–**'हे सत्यव्रत महर्षि ! यहाँ हिरण छिपा है क्या ?'**

महर्षि ने उत्तर दिया–**''हे महाभाग् ! तुमने जो प्रश्न पूछा है उसका जवाब मैं नहीं दे सकता क्योंकि देखने का काम आँख करती है और बोलने का काम जुबान करती है । आँख बोल नहीं सकती और मुंह देख नहीं सकता । अतः तुम्हारा शिकार छिपा है कि नहीं, उसका जवाब आँखे दे नहीं सकती है क्योंकि आँखे देख सकती है पर बोल नहीं सकती । जो मुंह जवाब दे सकता है, उसे प्रश्न का पता ही नहीं है क्योंकि वह देख नहीं सकता । इस परिस्थिति में हे वनराज ! मैं क्या कर सकता हूँ ?''** शिकारी वहां से परेशान होकर चला गया ।

महर्षि औतिथ्य के तार्किक उत्तर से सत्य व्रत की रक्षा हुई और एक जीव के प्राण भी बच गए । एक प्रश्न का सही उत्तर अनेक कार्य कर सकता है । यहाँ पर भी **'श्री भद्रंकर-प्रश्नोत्तरी'** पुस्तक में एक-एक प्रश्न जीवों के भाव प्राणों की रक्षा करते हैं ।

वाचना-पृच्छना-परावर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मकथा पाँच प्रकार का स्वाध्याय जिन शासन में प्रसिद्ध है । उसमें भी पृच्छना स्वाध्याय की अपनी महिमा बताई है । पृच्छना-प्रश्न स्वाध्याय इस बात की सिद्धि

करता है कि जिन शासन में कोई गडबड नहीं है । जहाँ प्रश्न पूछने की मनाई होती है वहाँ अवश्य कुछ न कुछ गडबड होती है ।

शास्त्रों में गुरु भगवन्त का विनय दो प्रकार से बताया गया है– **'तव्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन च सेवया ।'** प्रथम विनय है ज्ञानी गुरु को प्रणिपात यानी सेवा और दूसरा विनय है गुरु को प्रश्न पूछना । ज्ञानी गुरु को प्रश्न पूछना भी गुरु का एक विनय होता है । जिस तरह कुएं में रहा पानी बाल्टी से बाहर आता है उस तरह गुरु में रहा हुआ ज्ञान प्रश्नों के माध्यम से बाहर आता है और शिष्य भी धन्यता का अनुभव करता है ।

प्रश्न और उत्तर से बनी यह पुस्तक अनेक ग्रंथों का ज्ञान कराने में समर्थ है । जिसमें सरल और कठिन दोनों प्रकार के प्रश्न पूछे गए हैं । जिनसे जिन शासन के गहनतम सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । अरिहन्त परमात्मा की भक्ति का फल, अरिहन्त के अतिशय, अरिहन्त की वाणी के गुण, निर्जीव जिन प्रतिमा की पूजा से लाभ, जिन-प्रतिमा की आगमिक सिद्धि के 32 पाठ, आत्मा की सिद्धि, आत्मा का लक्षण और स्वरुप, जगत्कर्ता, कर्म, श्रद्धा, सम्यक्त्व प्राप्ति का क्रम, चार निक्षेपों का स्वरुप, सालम्बन और निरालम्बन ध्यान, आरोग्य और आध्यात्मिक दृष्टि से आयंबिल का लाभ, प्रमाण, सप्तमंगी, स्याद्वाद बृहत्शक्रस्तव, नवकार के रहस्य, प्रतिक्रमण के रहस्य आदि अनेक विषयों का विस्तृत समावेश यहां सुंदरता से करने में आया है ।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी की पावन प्रेरणाओं से परमार्हत् श्री कुमारपाल महाराजा ने 18 देशों में जहां से अहिंसा धर्म की ध्वजा लहराई थी, ऐसी पुण्यभूमि अणहिलपुर पाटण में जैन शासन के ओजस्वी सितारे, योग मार्ग के महान साधक, नमस्कार महामन्त्र के अद्भूत अनुप्रेक्षक, समत्व योग के प्रकृष्ट आराधक, सामायिक सूत्र के

सूक्ष्म चिंतक, अद्वितीय प्रतिभा संपन्न **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** ने जन्म लेकर इस भूमि की पवित्रता में चार चाँद लगा दिए ।

पाटण नगर में फोफलिया वाडा में रहने वाले श्रेष्ठीवर्य हालाभाई मगनलाल, जो पाटण जैन संघ के अग्रणी एवं जैन संघ के अग्रणी कार्यकर्ता थे, उनके वहाँ भगवान दास का जन्म हुआ । उनकी रत्नकुक्षी माता का नाम चुन्निबाई था । छोटी उम्र होने के कारण सभी उसे **'भगु'** नाम से संबोधित करते थे । बाल्यावस्था से ही प्रभु के जिनालय में ध्यान करना भगवानदास को अत्यंत प्रिय था । व्यवहारिक अभ्यास में सभी विद्यार्थियों में उनका अग्र स्थान था ।

9 वर्ष की अवस्था में माता चुन्निबाई का स्वर्गवास हुआ । मृत्यु को देखने का उनके जीवन में प्रथम अवसर था । उनका जीवन वैराग्य के रंगों से भर गया । छोटी उम्र में उपाध्याय **श्री यशोविजयजी, आनंदघनजी महाराजा** आदि पूर्वाचार्यों के स्तवनों के अर्थों को समझने का पूर्ण प्रयास करते थे । पाँच इन्द्रियों के विषयों का आकर्षण दूर हो गया था । 12 वर्ष की वय में भगवानदास ने पंच प्रतिक्रमण सूत्र और योगशास्त्र के 4 प्रकाश कंठस्थ कर लिए थे । 16 वर्ष की उम्र में वीतराग स्तोत्र, योगशास्त्र, 125-150 तथा 350 गाथाओं के स्तवनों को कंठस्थ किया था एवं संस्कृत का गहन अध्ययन प्रारंभ किया था । 17 वर्ष की उम्र में वर्धमान तप का पाया डाला और 20-21 वर्ष की उम्र में हमेशा के लिए जुते-चप्पल का त्याग कर दिया था । **'आयंबिल का तप' 'नवकार का जप'** और **'ब्रह्मचर्य का खप'** इस त्रिपदी को जीवन का मंत्र बना दिया था ।

भगवानदासभाई ने मुंबइ माधवबाग में **पू.मुनिराज श्री रामविजयजी म.** की वैराग्यवाही देशना को सुनकर, अपना जीवन उनके चरणों में समर्पित करने का निश्चय कर लिया । कार्तिक वद-3, संवत् 1987 के

दिन भायखला श्री जैन संघ के प्रांगण में **पू.दानसूरीश्वरजी महाराजा** के वरद हस्ते रजोहरण की प्राप्ति की, और **प.पू. पन्यास श्री रामविजयजी गणिवर्य** के शिष्य रुप से उद्घोषित हुए ।

उसके बाद **नूतन मुनि श्री भद्रंकरविजयजी** ने संयम पालन हेतु कमर कस ली । नियमित एकासन का तप, नियमित घंटों का स्वाध्याय, नियमित गुरुभक्ति, नियमित वांचन-चिंतन और अनुप्रेक्षा से संयम यज्ञ का प्रारंभ किया । **पू. आ. हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा, पू. आ. श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** तथा उपाध्याय **श्री यशोविजयजी महाराजा** के ग्रंथों का तलस्पर्शी अध्ययन किया । **'नवकार मन्त्र'** और **'मैत्री भावना'** यह उनके चिंतन के मुख्य केन्द्र थे ।

विक्रम संवत 2007 में पालीताणा तीर्थ में **पू.आ.श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा** ने **'गणि'** व **'पंन्यास'** पद प्रदान किया । वि.सं. 2007 से 2036 तक पंन्यास पद पर ही विराजमान रहे । यद्यपि उनके प्रगुरुदेव और गुरुदेव की और से अनेक बार आचार्य पर के स्वीकार हेतु निर्देश हुए थे, परन्तु निःस्पृहता मूर्ति ने के आचार्य पद का स्वीकार नहीं किया और **'पंन्यासजी महाराज'** के नाम से संघ में प्रिय एवं प्रख्यात हुए ।

ऐसे गुरुवर के संस्कार शिष्यों में उतरे यह सहज है । लोढा धाम में भद्रंकर परिवार आयोजित उपधान तप दरम्यान मरुधर रत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के साथ में रहना हुआ, उस समय दरम्यान मैंने उनकी एक विशेषता देखी, वह है हमेशा प्रवृत्तिशील रहने की । इसी कारण उन्होंने हिन्दी-गुजराती-मराठी-अंग्रेजी साहित्य में अकेले हाथों से 260 लगभग पुस्तकों का लेखन-संपादन किया है जो एक Record समान है । **'दिव्य संदेश'** के माध्यम से उनकी लेखनी अबाधित है । ये एक ऐसे महात्मा है जिनके हाथों की कलम से **श्वे.मू.संघ** में सबसे

ज्यादा हिन्दी साहित्य आलेखित हुआ है । स्वभाव से अत्यंत सरल, शिष्य-प्रशिष्यों को नियमित वाचना प्रदान करने वाले, चारित्र के आग्रही आदि उनकी अनेक विशेषताएं है ।

उनकी साहित्य यात्रा को अंतः करण से अगणित शुभेच्छा । यह यात्रा जिज्ञासु वर्ग को ज्ञान प्रदान कर, मोक्ष की और आगे बढे, यही मंगल कामना है ।

श्री जिनाज्ञा विरुद्ध कहीं आलेखन हुआ हो तो उसके लिए हार्दिक मिच्छा मि दुक्कडं ।

महा वद-5
लोढा धाम तीर्थ

प.पू.आ. श्री पुण्यकीर्तिसूरीश्वरजी
म.सा. के शिष्य
मुनि भव्यकीर्तिविजय गणि

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.सं.
	बीसवीं सदी के योगी पुरुष	1
1.	जिन भक्ति	6
2.	आपके सवाल-हमारे जवाब	26

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	:	राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	:	चंपाबाई
पिता का नाम	:	छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	:	बाली (राज.)
जन्म तिथि	:	भादो सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	:	पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	:	18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	:	1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षा दाता	:	पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	:	अध्यात्मयोगी पू. पंन्यास **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षा दिन	:	माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	:	शासन प्रभावक पू.आ. **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षा दिन विशेषता	:	भारत भर में लगभग 50 ऊपर दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	:	9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	:	न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	:	18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	:	फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	:	घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	:	संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषा बोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन प्रारंभ :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर, पालीताणा (दो बार) नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बत्तूर, चैन्नइ, बीजापूर, भायंदर, निगडी ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक तामिलनाडू आदि ।

◆ **पादविहार :** लगभग 47,000 कि.मी. ।

◆ **(छ'री पालित संघ में मार्गदर्शन-प्रवचन) :** बरलूट से शत्रुंजय, गोदन से जैसलमेर, वल्लभीपुर से पालीताणा, लुणावा से राणकपुर पंचतीर्थी

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय होकर गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ, सेवाडी से राणकपूर पंचतीर्थी, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन : ''वात्सल्य के महासागर''** वि.सं.संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 243

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी म.,**
स्व. मुनि श्री केवलरत्नविजयजी म., स्व. मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी म.,
मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी म., मुनि श्री शालिभद्रविजयजी म.,
मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म., स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी म.,
मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म., मुनि श्री निर्वाणभद्रविजयजी म.
मुनि श्री महापुण्यविजयजी म.

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव), नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम (मुंबई), लोढा धाम ।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना.

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई.

◆ **आचार्य पदवी :** पोष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

बीसवीं सदी के योगी पुरुष

पू.आ.श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

विशेषण, विशेष्य बन गया

सामान्यतया दुनिया में हर व्यक्ति अपने नाम से पहिचाना जाता हैं ।

'विशेषण' व्यक्ति के जीवन में विशेषता लाता है ।

सिर्फ विशेषण से किसी व्यक्ति का परिचय नहीं होता है ।

दुनिया में ऐसी विरल आत्माएं होती है जो अपने नाम से नहीं, बल्कि **'विशेषण'** से ही पहिचानी जाती है ।

ऐसी ही विरल विभूतियों में एक सुप्रसिद्ध नाम हैं–

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी महाराज !**

ये महापुरुष अपने नाम से जितने प्रख्यात नहीं थे, उतने ही अपने **'विशेषण'** से प्रख्यात थे ।

उनके अस्तित्व काल में एक नहीं, दो नहीं किंतु तीन तीन **भद्रंकरविजयजी म.** थे ।

एक थे पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के शिष्यरत्न । दूसरे थे **पूज्य बापजी म. आचार्य श्री सिद्धिसूरीश्वरजी म.सा.** के समुदाय के !

तीसरे थे **पू.आ.श्री लब्धिसूरीश्वरजी म.सा.** के समुदाय के ।

इसलिए सिर्फ **'भद्रंकरविजयजी कहे तो प्रश्न खडा होता'** कौनसे **भद्रंकरविजयजी** ? परंतु इनके नाम के बजाय सिर्फ **'पंन्यासजी महाराज'** इतना ही कहते है तो तुरंत ही **अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी म.** की छबी अपनी आंखों के सामने खडी हो जाती है ।

प्रसिद्धि की निःस्पृहता

मोहमाया के बंधनों को तोडकर संयम जीवन स्वीकार करने के बाद भी संयमी आत्मा पर मोहराजा का हमला जारी रहता है ।

धन का मोह छोडा, पुत्र-पत्नी व परिवार का बंधन तोडा, घर व गांव छोड दिया ।

देह के ममत्व को तोडने के लिए तप धर्म का आश्रय लिया ।

इतना सब छोडने के बाद भी संयमी आत्मा मोह के चंगुल में से बच नहीं पाती है ।

अब उसे सताती है प्रसिद्धि की भूख । अपने नाम की कामना संयमी की साधना को भी धूमील कर देती है ।

अच्छी अच्छी त्यागी, तपस्वी, संयमी आत्माएँ भी प्रसिद्धि के जाल में आबाद फंस जाती है ।

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म. अनोखी माटी के मानवी थे ।

वि.सं. 2010 की बात है । पूज्य पंन्यासजी महाराज लालबाग-माधवबाग में विराजमान थे ।

दोपहर का समय था । पूज्य पंन्यासजी म. अपने शिष्यवृंद को वाचना फरमा रहे थे ।

वाचना ही पूर्णाहूति के समय पर मुंबई के सुप्रतिष्ठित श्रावक दामजी जेठाभाई पधारे जो धन धान्य से तो समृद्ध थे, ही परंतु राजकीय क्षेत्र Politics में भी उनका बडा नाम था ।

औपचारिक वंदन विधि के बाद में दामजीभाई ने कहा, **'मुंबई राज्य के मुख्यमंत्री मोरारजी देसाई के साथ मेरा घनिष्ट संबंध है । वे मेरे जिगरी दोस्त भी है ।**

आप अनुज्ञा प्रदान करे तो मैं उन्हें लेकर यहां आऊं ?'

मुख्यमंत्री के आगमन की बात सुनकर अन्य महात्मा भी कुतुहूलता वश पंन्यासजी महाराज के प्रत्युत्तर को सुनने के लिए उत्सुक हो गए ।

सभी के मन में भारी जिज्ञासा थी कि पंन्यासजी महाराज इस प्रश्न का क्या जवाब देते है ?

राजकीय नेताओं के आगमन से भीड उमड पडती हैं और इससे महात्मा की भी प्रसिद्धि होती है ।

परंतु इस प्रसिद्धि की ममता से सदैव कोसों दूर रहनेवाले पूज्य पंन्यासजी म. ने कहा, `मुख्यमंत्री के साथ तुम्हारे अच्छे संबंध है तो अपनी सामाजिक व धार्मिक समस्याओं के निराकरण में उनकी अवश्य मदद ले सकते है ।

मोरारजीभाई तो खूब बुद्धिशाली और होशियार हैं, उनके पास तर्कशक्ति भी हैं, अतः उन्हें यहां बुलाने की आवश्यकता नहीं है, परंतु उन्हें कोई आध्यात्मिक समस्या हो और उन्हें मेरे मार्गदर्शन की आवश्यकता हो तो जरुर उन्हें बुला सकोगे, इस बहाने भी मैं उन्हें सहायता कर सकूंगा–इसके सिवाय तो उन्हें यहां लाने का कोई अर्थ नहीं है ।

दामजीभाई तो इस जवाब को सुनकर दंग रह गए ।

आज चारों ओर साधु-समाज में भी जहां प्रसिद्धि की भूख दिखाई दे रही है । छोटे-मोटे धार्मिक प्रसंगों में राजनेताओं को बुलाने और उसके माध्यम से प्रसिद्धि की भूख को शांत करने की होडसी लगी है ऐसे काल में भी प्रसिद्धि के व्यामोह से सर्वथा दूर रहनेवाले पूज्य पंन्यासजी भगवंत का यह प्रसंग, प्रेरणा का मधुर संगीत ही सुनाता है ।

निर्दोष उपचार के इच्छुक

संयम जीवन के स्वीकार के प्रारंभित वर्षों से ही पूज्य पंन्यासजी म. का स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहता था ।

कुछ न कुछ शारीरिक पीडाएं उन्हें होती रहती थी, फिर भी इन रोगों को वे खूब समतापूर्वक सहन करते थे ।

कभी कभार उपचार भी करना पडे तो वे निर्दोष व देशी उपचार ही करते थे और जरुरत पडे तो आयुर्वेदिक उपचार कराते थे, परंतु हिंसा पर ही आधारित एलोपिथी दवाओं आदि से वे बचने की कोशिष करते थे ।

वि.सं. 2025 में शिवगंज चातुर्मास में उन्हें (हिचकी) की बिमारी लागू पडी । लगभग 15 दिन तक हिचकी चालू रही । बाह्य देशी, उपचारों से कोई राहत नहीं मिली और उन्हें जीवन में पहली बार Injection का आश्रय लेना पडा ।

उस बीमारी के बाद उनका अनाज लेना लगभग बंद हो गया । उसके बाद उनका स्वास्थ्य गिरता गया । इच्छा नहीं होने पर भी उन्हें एलोपेथी दवाइयां लेनी पडती थी । इसका उनके मन में खूब दुःख था ।

आश्चर्य तो यह है कि उनकी बाह्य चिकित्सा के लिए आनेवाले डॉक्टर स्वयं अपनी आत्मा की चिकित्सा लेकर जाते थे ।

जालोर के चिकित्सक डॉ. गंगासिंहजी, मुंबई के डॉ. कीर्तिभाई भणसाली, शरद शाह, अमदाबाद के डॉ. मनुभाई शाह, रसिकभाई परीख, पाटण के डॉ. जीवनभाई आदि ने उनकी खूब सेवा की थी । पूज्यश्री की अपूर्व समाधि को देखकर डॉ. स्वयं आश्चर्य चकित हो जाते थे और उनसे प्रेरणा का बोध लेकर जाते थे ।

विशुद्ध संयम के प्रेमी

वि.सं. 2026 में पूज्य पंन्यासजी भगवंत का सादडी में चातुर्मास था ।

चातुर्मास के प्रारंभ के साथ ही वे भयंकर बीमारी से ग्रस्त हो गए ।

डॉक्टरों का खास सूचन था कि ऐसी परिस्थिति में उन्हें उदयपुर या अहमदाबाद ले जाया जाय, परंतु अपने नश्वर देह के बजाय शाश्वत

आत्मा की ही सतत चिंता करने वाले पूज्य पंन्यासजी महाराज ने अपनी संयम साधना के अनुकूल ऐसी मरुभूमि को ही साधना-भूमि बना दिया था ।

उनके साधना जीवन का ऊर्ध्वकाल मारवाड में ही व्यतीत हुआ था ।

वे जहां ठहरते, वह भूमि ही तीर्थ-भूमि बन जाती थी ।

संयम के विशुद्ध प्रेम के कारण वे विहार हेतु डोली का भी उपयोग नहीं करते थे ।

विशुद्ध-संयम की प्रीति के कारण वे यांत्रिक साधनों से कोसों दूर रहते थे ।

रोगों की चिकित्सा के लिए भी उन्हें कभी Hospitalized नहीं होना पडा था । उनके मन, शरीर की चिकित्सा से भी आत्मा की चिकित्सा मुख्य थी ।

शारीरिक भयंकर वेदना में भी जब डॉक्टरों की सलाह होती कि उन्हें बडे शहर में Transfer किया जाय, तब उनका सीधा प्रश्न होता **'शरीर कीमती या आत्मा ?'** यदि आत्मा कीमती है तो शरीर की इतनी चिंता क्यों ?

वे कहते, **'हम जितनी चिंता शरीर की करते हैं, उतनी चिंता आत्मा की कर लेते तो अपना काम हो जाता ।'**

देह से आत्मा की अधिक चिंता करनेवाले इस सदी के महान योगी पुरुष के चरणों में अनंतशः वंदना ।

1 जिन भक्ति

प्रश्न 1 :– शुद्ध देव-गुरु और धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :– जो वीतराग हैं, वे देव कहलाते हैं ।

जो निर्ग्रंथ हैं, वे गुरु कहलाते हैं और जो वीतराग-प्ररूपित है-वह धर्म कहलाता है ।

महान् पुण्योदय से मनुष्य भव को प्राप्त कर भी जो रागी को देव, गृहस्थी को गुरु और हिंसादिमय उपदेश को धर्म स्वीकार करते हैं, वे द्रष्टिराग रूपी दुराग्रह के कारण मनुष्यभव को व्यर्थ गँवा देते हैं ।

प्रश्न 2 :– सत्य देव का लक्षण क्या है और उनकी पूजा की विधि क्या है ?

उत्तर :– जो सर्व अन्तरंग शत्रुओं के विजेता हों, सर्वज्ञ हों, त्रिलोक से पूजित हों और सत्य अर्थ के प्रतिपादक हों वे सत्य देव अर्थात् ईश्वर है । जिन, केवली, अर्हन्, वीतराग, तीर्थंकर आदि उसी परमात्मा के नाम हैं ।

परमात्मा की पूजा उनके नाम-स्मरण से उनकी प्रतिमा के दर्शन से, उनके चरित्र और गुणों के स्मरण से हो सकती है । इन चारों प्रकार से परमात्मा की पूजा करने से आत्मा स्वयं परमात्म-स्वरूप बनती है ।

प्रश्न 3 :– शास्त्र में अरिहन्त भक्ति के महाफल का प्रतिपादन किया है, उसका कारण क्या है ?

उत्तर :– शास्त्र में श्री अरिहन्त की भक्ति का सर्वश्रेष्ठ फल कहा है, इसका कारण श्री अरिहन्त का निर्मल चारित्र और श्री अरिहन्त का निर्मल उपदेश है । निर्मल उपदेश देने वाले श्री अरिहन्त के शासन को प्राप्त कर / जानकर भी जिसका मन श्री अरिहन्त की भक्ति से भीना नहीं बनता है, वास्तव में उसका हृदय वज्र से भी कठोर मानना पड़ता है ऐसा कहने में लेश भी अतिशयोक्ति नहीं है ।

श्री अरिहन्त परमात्मा के शासन के विशेष परिचय के बाद, विशेषज्ञ पुरुषों को तो मोक्ष की अपेक्षा भी अरिहंत-भक्ति की अधिक अभिलाषा रहती है ।

अरिहन्त-भक्ति इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग को दूर करने वाली है । विश्वव्यापी यश फैलाने वाली है । देव, देवेन्द्र और चक्रवर्ती पद भी देने वाली है...ज्यादा क्या कहना, यावत् अरिहन्त और सिद्ध का पद देने की भी ताकत परमात्म-भक्ति में रही हुई है ।

जिसके दिल में श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति आदर बहुमान भक्तिभाव नहीं है, उसका मनुष्य जन्म भी बेकार है...उसका उत्तम कुल भी निरर्थक है...उसकी विद्वत्ता अज्ञान रूप है । तप-जप-ज्ञान-ध्यान आदि क्रियाएँ भी क्लेश-उत्पादक हैं ।

अरिहन्त परमात्मा का त्याग कर जो मोक्ष के लिए अन्य देवों को भजते हैं, वे तृषा की शान्ति के लिए सरोवर का त्याग कर मृग-मरीचिका के भ्रमजाल में फँसे हुए हैं ।

परम योगियों के लिए भी श्री अरिहन्त परमात्मा ही ध्येय रूप हैं ।

वे पुरुष धन्य हैं, कृतपुण्य हैं...उनका जन्म भी सार्थक है, जिनका मन श्री अरिहन्त परमात्मा के गुणों में लम्पट बना हुआ है ।

प्रश्न 4 :– परमात्मा के नाम अथवा गुणस्मरण से फायदा होता है, परन्तु जड़ मूर्ति की पूजा करने से क्या फायदा ?

उत्तर :– परमात्मा के नाम-स्मरण से फायदा होता है, यह बात आप कहते हैं तो मेरा प्रश्न है–क्या परमात्मा का नाम जड़ नहीं है ?

परमात्मा का नाम भी जड़ (पुद्गल रूप) ही है, फिर भी जिस प्रकार परमात्मा का नाम, परमात्मा के गुणस्मरण में आलम्बन रूप बनता है, उसी प्रकार परमात्मा की मूर्ति भी परमात्मा के परमार्थ स्वरूप की पहिचान कराने में परम आलम्बनभूत बनती है ।

परमात्मा की मूर्ति/प्रतिमा को भावपूर्वक नमस्कार आदि करने से सम्यक्त्व रूप महाफल की प्राप्ति होती है । मोक्षमार्ग में अनुकूल पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है और अनर्थ में कारणभूत अर्थ/लक्ष्मी सार्थक बनती है । परमात्मा की शांत आकृति से परमात्मा के गुणों का बोध/ज्ञान होता है जिससे परम्परा से मोक्ष रूप महाफल/कार्य की सिद्धि होती है । परमात्मा की मूर्ति जड़ होते हुए भी चिंतामणि रत्न की तरह समस्त इच्छित प्रदान करती है । परमात्मा की पूजा के प्रति ईर्ष्या-भाव धारण करने वाले वास्तव में दुर्भागी हैं, उनके हाथ में से चिंतामणि रत्न दूर हो गया है, उन्होंने परम पुण्योदय से प्राप्त कामकुंभ को फाड़ डाला है और गृहांगण में पैदा हुए कल्पवृक्ष को उखाड़ डाला है ।

प्रश्न 5 :– श्री जिनपूजा में स्थावर जीवों की हिंसा होती है, अतः उससे पुण्यबंध कैसे होगा ?

उत्तर :– त्रस और स्थावर उभय जीवों की हिंसा का त्याग करने वालों को जिनपूजा में स्थावर जीवों की हिंसा कहाँ करने की होती है ? उनके लिए तो द्रव्यपूजा का ही निषेध है । परन्तु जिन्होंने त्रस जीवों की भी हिंसा का सर्वथा परित्याग नहीं किया है, ऐसे गृहस्थ-जिनपूजा और जिनभक्ति निमित्त होने वाली स्थावर जीवों की हिंसा से डरकर श्री जिनभक्ति नहीं करें तो प्रश्न होता है–तो वे उतने समय तक क्या त्रस-स्थावर की हिंसा में परायण नहीं होने वाले हैं ?

त्रस-स्थावर सभी जीवों को अभयदान देने वाले मुनि के लिए, भक्ति निमित्त होने वाली स्थावर हिंसा दोष रूप है, परन्तु जिन्होंने त्रसहिंसा भी नहीं छोड़ी है, उन्हें भक्ति निमित्त, स्थावर की हिंसा नहीं करने का उपदेश देना, यह तो जिसने रात्रिभोजन का भी पच्चक्खाण नहीं किया है उसे दिन में भी भोजन नहीं करने के पच्चक्खाण देने तुल्य ही है । अथवा जिन्होंने मांसाहार का भी त्याग नहीं किया हो, उसे वनस्पत्याहार का पच्चक्खाण देने तुल्य है ।

परिग्रह और आरम्भ में लीन गृहस्थ के लिए, श्री जिनभक्ति में

होने वाली स्थावरकाय की हिंसा दोष रूप नहीं, किन्तु गुण रूप है । क्योंकि श्री जिनभक्ति से परम्परा से त्रस-स्थावर उभय की रक्षा का परिणाम जागृत होता है ।

जिस प्रकार संयम की रक्षा के लिए नदी उतरना, मुनि के लिए दोषरूप नहीं है किन्तु गुणरूप है, उसी प्रकार परिग्रह आरम्भ से बचने के लिए गृहस्थ को जिनेश्वर देव की द्रव्यभक्ति, दोषरूप नहीं किन्तु गुणरूप मानी गई है । जिनभक्ति में गृहस्थ के लिए जो आरम्भ है, वह शुभ परिणाम और शुभ प्रवृत्ति का जनक होने से सदारम्भ माना गया है और उस सदारम्भ के आलम्बन बिना, अपने-अपने गुणस्थानक में रही हुई आत्मा के लिए आगे बढ़ना शक्य नहीं है ।

आवश्यकादि क्रिया करते समय मुनि को भी आरम्भ रहा हुआ है, परन्तु यतनापूर्वक करने से वह आरम्भ दुर्गति का कारण नहीं बल्कि शुभगति का कारण बनता है । उसी प्रकार जिनपूजा में स्थावरकाय का आरम्भ होने पर भी यतनापूर्वक पूजा में प्रवृत्ति, गृहस्थ को वह आरंभ दुर्गति का नहीं बल्कि सुगति का कारण बनता है ।

प्रश्न 6 :– गृहस्थ द्रव्यपूजा न करे और केवल भावपूजा करे तो चल सकता है या नहीं ?

उत्तर :– गृहस्थ हमेशा आरम्भ और परिग्रह से युक्त होता है, अतः उसके लिए द्रव्यपूजा अनिवार्य है । आरम्भ-परिग्रह युक्त होने से वह चिन्तातुर होता है, उस चिन्ता से बुद्धि कुण्ठित बनती है । इस कारण से गृहस्थ का चित्त, तत्त्वत्रयी के बाह्य आलम्बन बिना स्थिर नहीं बनता है । चित्त की स्थिरता के लिए उन्हें नित्य देवपूजा साधुसेवा और सक्रिय दानादि धर्मों की आवश्यकता रहती है ।

इसके साथ ही गृहस्थ प्रायः सावद्य कार्य में रत, सदैव ऐहिक अर्थ प्राप्ति में आसक्त, कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि की चिन्ता में प्रसक्त, व्यवहार के कार्यों में आदरयुक्त और परतन्त्रता आदि कारणों से खिन्न होती है, अतः केवल भावपूजा से उसके चित्त की स्थिरता अशक्य ही है ।

इसके साथ ही गृहस्थ के अन्य कार्य भी द्रव्य से ही सिद्ध होते हैं, अतः द्रव्य द्वारा होने से, द्रव्य द्वारा होने वाले धर्म से उसके मन को तुष्टि हो सकती है ।

प्रश्न 7 :– प्रतिमा तो निर्जीव है, उससे क्या फायदा हो सकता है ?

उत्तर :– निर्जीव प्रतिमा से भी अवश्य लाभ होता है । जिस आकार का दर्शन होता है, उस आकार सम्बन्धी धर्म का मन में चिन्तन होता है । सुन्दर / सम्पूर्ण अवयव वालों स्त्री के चित्र को देखकर राग/मोह पैदा होता है । कोकशास्त्र में निरूपित कामासनों की आकृति को देखकर कामी पुरुष को काम-विकार का अनुभव होता है । योग-शास्त्र में निरूपित योगासनों को देखकर योगाभ्यासी को योग के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है । भूगोल के नक्शे आदि को देखकर, उसकी रुचि वाले व्यक्ति को देश-नगर व शहर का बोध होता है । शास्त्र की पंक्तियों के दर्शन से विद्वान् व्यक्ति को नये-नये ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार इष्टदेव की प्रतिमा के दर्शन से दर्शक के मन में 'इष्ट' के गुणों का अवश्य स्मरण होता है ।

लौकिक शास्त्र और लोक-व्यवहार में भी प्रतिमा और आकार का विशेष महत्त्व रहा हुआ है ।

पति के वियोग में सती स्त्री पति के निर्जीव-चित्र का दर्शन कर सन्तोष और आनन्द का अनुभव करती है यह बात सती स्त्रियों के द्रष्टान्त से सुप्रसिद्ध है ।

सती सीताजी श्री रामचन्द्रजी के वियोग में, उनकी मुद्रिका का आलिंगन कर श्री रामचन्द्रजी की प्राप्ति-समान सुख का अनुभव करती है और रामचन्द्रजी भी सीताजी के आभूषणों को प्राप्त कर सीताजी के मिलन समान सुख/आनन्द का अनुभव करते हैं ।

अजैन रामायण में रामचन्द्रजी के वनवास की अवधि में, भरत महाराजा श्री रामचन्द्रजी को पादुका का पूजन करते थे और श्री महाभारत

में भी एकलव्य भील की द्रोणाचार्य की प्रतिमा से अर्जुन सद्रश धनुर्विद्या-प्राप्ति का उल्लेख उपलब्ध है ।

निर्जीव आकृति का असर/प्रभाव जानने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण भी बहुत से उपलब्ध हैं ।

खेत में खड़ी की कई `पुरुषाकृति' निर्जीव होते हुए भी खेत का रक्षण करती है । अशोक वृक्ष की छाया निर्जीव होते हुए भी शोक दूर करती है और कलि की छाया कलह पैदा कराती है । चांडाल आदि की अस्पृश्य छाया (अजैन मतानुसार) पुण्यहानि करती है । सगर्भास्त्री की छाया पुरुषत्व का नाश करती है । जंतर-मंतर करने वाला मंत्रादि के प्रयोग द्वारा निर्जीव पुतले से अन्य जीवों को मूर्च्छित करता है । मालिक अपनी मूर्ति को भक्ति भाव से देखने वाले सेवक पर खुश होता है ।

साकार वस्तु के आकार से इस प्रकार विविध प्रभाव/असर उत्पन्न होते हैं । इतना ही नहीं, अनाकार वस्तुएँ भी दुनिया में कार्य-साधक बनती हैं । शून्य (०), `अ' से `ह' पर्यन्त अक्षर, संगीतशास्त्र के राग, वायुमण्डल आदि निराकार होते हुए भी उनसे समस्त व्यवहार चलता है । इसी प्रकार अनाकार ईश्वर का भी आकार (प्रतिमा) उसके पूजक के शुभाशयानुसार महान् फल देता है । अनाकार ईश्वर की साकार मूर्ति के पूजन से अनाकार ईश्वर को किसी प्रकार का शुभाशुभ फल प्राप्त नहीं होता है परन्तु उसके पूजक को अवश्य लाभ होता है ।

किसी वज्रमय दीवार पर कोई मणि फेंके या पत्थर फेंके, सूर्य के सामने कोई कपूर फेंके या धूल उड़ाए, सत्ताधीश चक्रवर्ती की कोई स्तवना करे या निंदा, इससे वज्रमय दीवार सूर्य तथा चक्रवर्ती को लाभ/नुकसान नहीं होता है, परन्तु उस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले को लाभ/नुकसान अवश्य होता है । इसी प्रकार अनाकार ईश्वर की साकार प्रतिमा के पूजन से ईश्वर को कुछ भी फल नहीं मिलता है, परन्तु पूजक को अपने शुभ-अशुभ परिणाम के अनुसार अवश्य शुभ अशुभ फल मिलता है ।

जैनशासन में ईश्वर को एकांत निराकार भी नहीं माना गया है । निराकार ईश्वर की भी प्रथम साकार अवस्था मानी गई है...तत्पश्चात् ही वे निराकार बनते हैं ।

प्रश्न 8 :– परमात्मा की पूजा तुरन्त फलदायी क्यों नहीं बनती है ?

उत्तर :– प्रत्येक वस्तु अपनी परिपक्व अवस्था में ही फलदायी बनती है । प्रसूति भी नव मास बाद होती है । मंत्र का जाप भी हजार, लाख, करोड़ बार करने के बाद ही फलता है । अन्य-अन्य वनस्पतियाँ भी अपने-अपने समय में ही फलती हैं । राजसेवा, वाणिज्य, व्यापार आदि क्रियाएँ भी नियतकाल में ही फलदायी बनती हैं । उसी प्रकार पूजाति श्रेष्ठ अनुष्ठानों का श्रेष्ठ फल जन्मान्तर में प्राप्त होता है ।

चिन्तामणि आदि पदार्थ ऐहिक और तुच्छ फलदायी होने से इस भव में ही फलते हैं, परन्तु पूजा का पुण्य और उसका फल,उससे महान् होने से, उसके फल के लिए तुच्छ मनुष्यभव उपरान्त देवभव आदि सामग्री की अपेक्षा रहती है ।

जगत् में पुण्य भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । कई उग्र पुण्य-पाप इसी भव में फलदायी बनते हैं ।

किसी विकट प्रसंग में राजपुत्र को दिया गया अल्पदान भी इस जन्म में प्राणांत कष्ट में से बचाने वाला भी (व्यवहार से) बनता है ।

राजादि की सेवा करने वाला परिवार सुखी बनता है और अपराध करने वाला परिवार सहित मारा जाता है, उसी प्रकार उत्कृष्ट भाव से की गई श्री वीतराग-परमात्मा की पूजादि का फल इस लोक में भी प्राप्त होता है और परलोक में तो अवश्य सुख की परम्परा में कारण बनकर फलदायी बनता है ।

प्रश्न 9 :– परमात्मा के नाम-स्मरण से क्या फायदा ?

उत्तर :– मंत्र-जाप से मंत्र का रहस्य नहीं जानने वाले का भी विष उतर जाता है, उसी प्रकार तत्त्व नहीं जानने वाले का भी पाप, प्रभु-

स्मरण से नष्ट हो जाता है । पाप-नाश से आत्मा शुद्ध बनती है और आत्मा के शुद्ध बनने से ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है और ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति से सकल कर्मों का नाश होकार मोक्ष प्राप्त होता है ।

प्रश्न 10 :– श्री जिनमन्दिरजी को कौनसी उपमाएँ दे सकते हैं ?

उत्तर :– श्री जिनमन्दिरजी को अनेक सुन्दर उपमाएँ दे सकते हैं । जैसे–**जिनमंदिर मूक उपदेश देने वाली पुस्तक है ।** भव-वन में भटके हुए के लिए दीपक समान है । संतप्त जीवों के लिए शांति का स्थान है । रोग-ग्रस्त के लिए वैद्य समान है । मरुभूमि में कल्पवृक्ष समान है । खारे सागर में मधुर जलप्रवाह समान है । स्वर्ग की सीढ़ी है, मोक्ष का स्तम्भ है, नरक की अर्गला है और आत्ममानरूपी अमृत का कुण्ड है ।

प्रश्न 11 :– श्री तीर्थंकर परमात्मा की पूजा क्यों ?

उत्तर :– तीर्थंकर परमात्मा अपने पूर्वज थे अथवा राज्य के मालिक चक्रवर्ती सम्राट् थे, इस द्रष्टि से वे पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है । उनकी पूजा का मुख्य कारण है–'उन्होंने हमें मोक्षमार्ग बताया है, वे स्वयं उस मार्ग पर चले है और हमें भी वही मार्ग बतलाया है', इसीलिए हम उनकी पूजा करते हैं ।

श्री तीर्थंकर परमात्मा के सद्गुणों को लक्ष्य में रखकर उनका किया गया सम्मान हमारे लिए लाभकारी बनता है ।

तीर्थंकर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट त्याग-मार्ग के जो अर्थी नहीं हैं, वे तीर्थंकर देव की पूजा करते हों...तो भी उनकी पूजा वास्तविक नहीं कहलाती है । श्री तीर्थंकर देवों की वास्तविक पूजा, उनके गुणों का और उनके द्वारा उपदिष्ट त्याग मार्ग के बहुमान रूप है । ऐहिक लालसा से की गई तीर्थंकर देवों की पूजा वास्तविक पूजा ही नहीं है ।

प्रश्न 12 :– जड़ की पूजा करने से जड़ता नहीं आएगी ?

उत्तर :– 'श्री जिनमूर्ति जड़ होने से, उसकी पूजा करने वाले जड़ जैसे बन जाते हैं ।' इस प्रकार का आक्षेप करने वाले लोग अज्ञानी

ही हैं । वास्तव में तो इस प्रकार का आक्षेप करनेवाले ही अपनी जड़ता का प्रदर्शन करते हैं ।

संसारी अवस्था में रहे हुए जीव की जड़ता दूर करने का साधन अकेला चेतन नहीं, किन्तु चेतन सहित/रहित जड़ ही है । संसारी आत्मा को चेतन की पहिचान भी जड़ द्वारा ही होती है ।

यह बात सत्य है कि `जड़ से जिस प्रकार चैतन्य का विकास होती है, उसी प्रकार विनाश भी हो सकता है और इसी कारण ज्ञानी पुरुषों ने चैतन्य-विनाशक जड़ साधनों से दूर रहने का उपदेश दिया है और चैतन्य का विकास करने वाले जड़ साधनों की भी उपासना करने की आज्ञा फरमाई है । जड़ शास्त्रों से ही सम्यग्ज्ञान गुण का विकास होता है । जड़ संयम उपकरण वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरण आदि से सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता है, इसी प्रकार जिनचैत्य, जिन-प्रतिमा और उसकी पूजादि के उपकरण भी सम्यग्दर्शन गुण के विकास में सहायक हैं, अतः उन-उन गुणों का पूर्ण विकास न हो तब तक उन-उन साधनों का सेवन करना अनिवार्य है और प्रतिपक्ष में चित्र में आलेखित जड़ स्त्री, काष्ठ-पाषाण में घड़ी हुई स्त्री की प्रतिमा विकार पोषक द्रव्य, श्रृंगार पोषक द्रश्य आदि नुकसानकारक जड़ पदार्थों का परित्याग करना चाहिये, क्योंकि उससे जड़ता बढ़ती है । अतः `जड़ की पूजा जड़ बनाती है' ऐसा एकान्त नियम नहीं है । जड़ता दूर करने के लिए भी अमुक जड़ पदार्थ ही साधन रूप बनते हैं, अतः विधिपूर्वक परमात्मा की उपासना करना परम कर्त्तव्य है ।

प्रश्न 13 :– क्या श्री जिन-भक्ति में चमड़े के नगाड़े जैसी अपवित्र वस्तुओं का उपयोग हो सकता है ?

उत्तर :– श्री जिनेश्वर देव सर्वोत्कृष्ट परोपकारी तथा सर्वश्रेष्ठ पवित्र पुरुष हैं, अतः उनकी भक्ति करना, प्राणी मात्र का प्रधान कर्त्तव्य है । उनका सत्कार और पूजन प्रगति के प्रधान अंग हैं । आध्यात्मिक तथा मानसिक विज्ञान की द्रष्टि से पवित्रतम और परोपकाररत प्रधान पुरुषों की सेवा, पूजा-भक्ति में जगत् के सर्वश्रेष्ठ रत्नभूत पदार्थों का

उपयोग भाववृद्धि का जनक बनता है । **'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं, तद्धि रत्नं प्रचक्षते'** अपनी-अपनी जाति में जो उत्कृष्ट होता है, वह रत्न कहलाता है । श्री जिनेश्वर देव सभी देवों, दानवों और मानवों में उत्कृष्ट होने से 'पुरुषरत्न' कहलाता हैं, उसी प्रकार उनकी पूजा और भक्ति में, अपनी-अपनी जाति में उत्कृष्ट ऐसी वस्तुओं का उपयोग करना, धर्म-शास्त्र और मानस-शास्त्र की द्रष्टि से अत्यन्त उपकारक है । इसी कारण से जिनभक्ति में दाँत, केश और मल आदि वस्तुओं का उपयोग भी विहित है । दाँत की जाति में रत्नभूत हाथी दाँत, केश की जाति में रत्नभूत चमरी गाय के बाल, मल पदार्थ में रत्नभूत कस्तूरी मृग की नाभि का मल कस्तूरी का उपयोग विहित है ।

काष्ठ में चन्दन, फूल में कमल और फूल के तन्तुओं में केसर को स्थान दिया गया है । धातुओं में सुवर्ण, रस में दूध-घी, वस्त्र में रेशम आदि का उत्तम स्थान है ।

संगीत भी एक उत्तम कला है, अतः जिनभक्ति में उसका भी स्थान विहित है । वीणा, मृदंग, ढोल-नगाड़े आदि वाद्ययंत्र संगीत कला के साधन हैं । संगीत के लिए जिन वस्तुओं की अनिवार्यता है, उनका उपयोग करना दोषयुक्त नहीं है किन्तु परममंगलमय और तत्त्वद्रष्टि से सर्वथा निर्दोष है ।

प्रश्न 14 :– क्या जड़ मूर्ति से चेतन को फायदा हो सकता है ?

उत्तर :– चश्मे के काच जड़ होते हुए भी आँख को फायदा करते हैं या नहीं ? करते ही हैं । अपनी आँख से दो मील का भी द्रश्य देख नहीं सकते हैं, फिर भी जड़ दूरबीन की सहायता से पचासों मील का द्रश्य देखा जा सकता है ।

जड़ कम्बल से सचेतन शरीर की ठंडी उड़ सकती है, तो फिर जड़ प्रतिमा से आत्मा को फायदा क्यों न हो ।

प्रश्न 15 :– परमात्म-दर्शन की सफलता का क्या आधार है ?

उत्तर :– परमात्म-दर्शन से आत्मा में शुभ भाव पैदा होता है । परमात्म-दर्शन के समय दर्शक नम्र बनकर परमात्मा की स्तवना करता

है, जिससे वह कृतज्ञता का भाव व्यक्त करता है । इस कृतज्ञता से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होता है और आत्मा क्रमशः मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ती है ।

प्रश्न 16 :– देव-दर्शन से शास्त्र में कथित फल मिलता हो तो वह फल सबको क्यों नहीं मिलता है ?

उत्तर :– देवदर्शन में शास्त्र-कथित फल देने की ताकत है, इसमें शंका का कोई स्थान नहीं है । परन्तु प्रत्येक क्रिया विधिपूर्वक करने से ही फलदायी बनती है । अविधि, अपूर्ण विधि अथवा विपरीत विधि से करने से कोई भी क्रिया फलदायी नहीं बनती है । खेती, रसोई तथा व्यापार आदि सभी क्रियाओं में विधि का पालन करना ही पड़ता है । बस, इसी प्रकार विधि के पालनपूर्वक की गई परमात्म-भक्ति का फल अवश्य मिलता है ।

प्रश्न 17 :– नाम-स्मरण से परमात्म-भक्ति हो सकती है तो फिर प्रतिमा-पूजन की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– नाम-स्मरण मात्र से ही परमात्मा की भक्ति हो सकती हो तो गुरु की भक्ति भी नाम-स्मरण से क्यों नहीं हो सकती ।

जिस प्रकार नाम-स्मरण के साथ-साथ गुरु को नमन, वन्दन सम्मान तथा आहार पानी आदि दिया जाता है उसी प्रकार परमात्मा के भी नाम-स्मरण के साथ-साथ उनका वन्दन-पूजन आदि भी आवश्यक है ।

प्रश्न 18 :– जिनपूजा में षड् जीव निकाय का वध होता है, तो पूजा करना योग्य है ?

उत्तर :– जिनपूजा में जल तथा वनस्पतिकाय के जीवों की जो हिंसा होती है, वह गृहस्थों के लिए कूप के द्रष्टांत से लाभकारी ही है । जैसे-कोई पथिक ग्रीष्म ऋतु में किसी वन से गुजर रहा है गर्मी के कारण उसे प्यास लगती है । चारों ओर पानी की शोध करता है, कहीं भी पानी नहीं मिलता है । अन्त में, वह शुष्क नदी के किनारे आता है, किसी से पता चलता है कि नदी में थोड़ा सा खोदने से जल मिल जाएगा । यह जानकर तृषातुर होते हुए भी वह नदी में खोदता है, खोदने में उसे श्रम

होता है, प्यास भी बढ़ती है और कपड़े भी गन्दे होते हैं परन्तु जल की आशा के कारण वह उस श्रम की उपेक्षा करता है । अन्त में, जल की प्राप्ति होने पर वह उस श्रम आदि को दूर कर सकता है । बस ! इसी प्रकार जिनपूजा में जीवों की अल्प हिंसा होते हुए भी परमात्म-भक्ति के शुभ अध्यवसाय के कारण वह हिंसा भी महान् लाभ का ही कारण बनती है ।

जिनपूजा में होने वाली स्वरूप-हिंसा भी अहिंसा का ही अनुबन्ध कराने वाली है ।

प्रश्न 19 :– प्रतिमा-पूजन यदि आदरणीय है तो साधु महाराज द्रव्य पूजा क्यों नहीं करते हैं ?

उत्तर :– साधु भी आंशिक रूप से द्रव्य पूजा करते ही हैं । वे भी जिन मन्दिर जाते हैं, प्रतिमा को हाथ जोड़ते हैं, वन्दन करते हैं, मस्तक झुकाते हैं, स्तुति-स्तवना करते हैं, खमासमणा देते हैं, इस प्रकार की द्रव्यपूजा साधु म. करते ही हैं । चैत्यवन्दन भाव पूजा रूप होते हुए भी उसमें कायिक नमन आदि द्रव्य-पूजा रूप ही हैं ।

साधु धन के त्यागी होते हैं, अतः धन (द्रव्य) के व्यय से होने वाली धूप, दीप, चन्दन, अक्षत, नैवेद्य आदि द्रव्य पूजा का उनके लिए निषेध है ।

प्रश्न 20 :– जिन-पूजा से जिनेश्वर को कुछ भी लाभ नहीं होता है, अतः जिनपूजा निरर्थक है ?

उत्तर :– जिनपूजा से जिनेश्वर पर कोई उपकार नहीं होता है परन्तु पूजक को तो अवश्य लाभ होता है ।

जिस प्रकार मंत्र का स्मरण, अग्नि का आसेवन और विद्या का अभ्यास करने से क्रमशः मंत्र, अग्नि और विद्या पर कोई उपकार नहीं होता है, किन्तु मंत्र के स्मरण करने से विष का नाश, अग्नि का आसेवन करने से शीत का नाश और विद्या का अभ्यास करने से (अभ्यास करनेवाले की) ज्ञान-वृद्धि अवश्य होती है, उसी प्रकार जिन-पूजा से पूजक के शुभ अध्यवसाय बढ़ते हैं और उससे कर्म की निर्जरा और पुण्य का बन्ध अवश्य होता है ।

प्रश्न 21 :– भगवान कृतकृत्य हैं, अतः उनकी पूजा से हमें क्या फायदा ?

उत्तर :– भगवान स्वयं कृतकृत्य हैं, इसीलिए वे पूजा के पात्र हैं । भगवान् स्वयं कृतकृत्य होने पर भी भव्य जीवों के उपकार के लिए तीर्थ की स्थापना कर महान् उपकार करते हैं, उनका हम पर अमाप उपकार है । वे सर्वगुणसम्पन्न हैं, इसीलिए वे सर्वाधिक पूजा के पात्र है ।

प्रश्न 22 :– अरिहंत परमात्मा के कितने अतिशय हैं ? कौन कौन से ?

उत्तर :– अरिहंत परमात्मा के कुल 34 अतिशय हैं । इनमें चार जन्म से ही हैं, ग्यारह कर्मक्षय से जन्य हैं और 19 देवकृत हैं ।

जन्म से चार अतिशय :

1. अद्‌भुत रूप – परमात्मा का रूप अद्‌भुत होता है । **पू. उपाध्यायजी म.** ने गाया है–

कोडी देव मिल के कर न सके, एक अंगुठरूप प्रति छंद ।
एसो अद्‌भुत रूप तिहारो, वर्सत मानूं अमृत को बुंद ।।

करोड़ों देवता मिलकर एक अंगूठे जितना रूप बनावे तो भी परमात्मा के अद्‌भुत रूप के आगे तो वह जले हुए अंगारे के जैसा ही होता है ।

परमात्मा का रूप लोकोत्तर होता है । परमात्मा के रूप के समान इस तीन लोक में किसी का रूप नहीं है ।

भक्तामर स्तोत्र में ठीक ही कहा गया है कि–

''हे परमात्मा ! आपका रूप शान्त रस से भरपूर परमाणुओं से निर्मित हुआ है । आपके रूप तुल्य अन्य परमाणु इस पृथ्वी-तल पर नहीं हैं, क्योंकि आपके तुल्य अद्‌भुत रूप और किसी का नहीं है अर्थात् इस पृथ्वीतल पर जितने शांत रस से युक्त परमाणु हैं, उन सबका आपके रूप में समावेश हो गया है ।''

परमात्मा का रूप इतना आकर्षक और सौम्य होता है कि उसे पुनः पुनः देखने की इच्छा बनी रहती है । अमृत रस के पान समान प्रभु के रूप दर्शन में आनन्द आता है ।

परमात्मा का देह सम्पूर्ण नीरोग और परिपूर्ण होता है । देह में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती है । परमात्मा के देह में किसी प्रकार का रोग भी नहीं होता है । इसके साथ ही परमात्मा की देह पर मल या पसीना भी नहीं होता है ।

2. सुगंधित श्वासोच्छ्वास :– जन्म से ही तीर्थंकर परमात्मा का श्वासोच्छ्वास अत्यन्त ही सुगन्धमय होता है । सामान्य जन के श्वास में दुर्गंध आती है, परन्तु तीर्थंकर का श्वासोच्छ्वास कमल के समान सुगन्धित होता है ।

3. श्वेत मांस व रक्त – परमात्मा के शरीर में रक्त-मांस भी सफेद होते हैं ।

4. आहार-नीहार अदृश्य – परमात्मा के शरीर में आहार-नीहार की प्रवृत्ति को कोई भी छद्मस्थ देख नहीं सकता है अर्थात् परमात्मा के आहार-नीहार की प्रवृत्ति को सामान्य जन नहीं देख सकते हैं ।

कर्मक्षयजन्य 11 अतिशय :

दीक्षा ग्रहण करने के साथ ही तीर्थंकर परमात्मा को मनः पर्यवज्ञान की प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् त्याग, वैराग्य और ध्यान की उत्कृष्ट साधना के फलस्वरुप समस्त घातिकर्मों का क्षय कर वे केवलज्ञान प्राप्त करते हैं । इसके साथ ही परमात्मा के 11 अतिशय प्रगट होते हैं, जो निम्नलिखित हैं–

1. एक योजन में करोड़ों का समावेश – तीर्थंकर परमात्मा के केवलज्ञान के साथ ही देवता आकर समवसरण की रचना करते हैं और परमात्मा मेघगर्जना के समान गंभीर धर्मदेशना देते हैं । इस धर्मदेशना में असंख्य देव, मनुष्य और तिर्यंच आते हैं । बारह पर्षदा के अन्तर्गत सभी देव-मनुष्य आ जाते हैं । समवसरण का प्रमाण एक योजन का होता है, उतने क्षेत्र में करोड़ों का समावेश हो जाना-यह तीर्थंकर परमात्मा का अतिशय ही है । पास-पास में बैठने पर भी किसी को पीड़ा नहीं होती है ।

2. स्व-स्व भाषा में अर्थ का परिणमन – परमात्मा अत्यन्त ही मधुर स्वर से अर्द्धमागधी भाषा में धर्मदेशना देते हैं किन्तु तीर्थंकर परमात्मा के अतिशय के फलस्वरुप वह देशना सभी जीवों को अपनी-

अपनी भाषा में परिणत हो जाती है, सब को यही लगता है कि प्रभु मेरी ही भाषा में बोल रहे हैं ।

3. भामण्डल – परमात्मा का मुखमण्डल करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी होता है, फिर भी लोगों को प्रभु के रूप को देखने में तकलीफ न हो, इसलिए वह तेजपुंज प्रभु के मस्तक के पिछले भाग में भाण्डल के रूप में रहता है ।

4. रोगनाश – परमात्मा जहाँ-जहाँ विचरते हैं, उन समस्त दिशाओं में 125 योजन तक किसी भी प्रकार के रोग का उपद्रव नहीं होता है अर्थात् प्रभु के अस्तित्व मात्र से ज्वर आदि रोग दूर हो जाते हैं ।

5. वैरनाश – परमात्मा के समवसरण में आजन्म से वैरी-शत्रु भी परस्पर पास में बैठ जाते हैं और वैरभाव भूल जाते हैं । बिल्ली के सामने ही चूहा आराम से बैठ सकता है ।

6. ईतिनाश – धान्यादि का नाश करने वाले चूहे आदि का उपद्रव भी शान्त हो जाता है ।

7. मारिनाश – परमात्मा जहाँ-जहाँ विचरते हैं, उसके चारों और 125 योजन में मारि-मरकी के उपद्रव शांत हो जाते हैं ।

8. अतिवृष्टि का अभाव – परमात्मा के विहार-क्षेत्र में 125 योजन तक कहीं भी अतिवृष्टि नहीं होती है ।

9. अनावृष्टि का अभाव – परमात्मा के विहार-क्षेत्र में 125 योजन तक वृष्टि का सर्वथा अभाव भी नहीं रहता है ।

10. दुर्भिक्षनाश – परमात्मा के विहार-क्षेत्र में 125 योजन तक कभी दुष्काल नहीं पड़ता है ।

11. स्व-पर राष्ट्र-भय का अभाव – जहाँ-जहाँ प्रभु विचरते हैं, वहाँ पर स्व राष्ट्र सम्बन्धी और अन्य राष्ट्र सम्बन्धी किसी भी प्रकार का राजकीय उपद्रव नहीं होता है ।

देवकृत 19 अतिशय :

केवलज्ञान के बाद तीर्थंकर परमात्मा की उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति के फलस्वरूप देवता भी प्रभु के निकट खिंच कर आते हैं । देवकृत निम्नांकित 19 अतिशय होते हैं ।

1. धर्मचक्र – केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद परमात्मा जब-जब विहार करते हैं, तब धर्मचक्र आकाश में स्वयं चलता है ।

2. चामर – जब परमात्मा समवसरण में बैठकर धर्मदेशना देते हैं, तब प्रभु के दोनों ओर चामर वींझते हैं तथा विहार के समय आकाश में स्वयं चलते हैं ।

3. सिंहासन – समवसरण में परमात्मा के बैठने के लिए देव पादपीठ युक्त स्वच्छ स्फटिकमय उज्ज्वल सिंहासन बनाते हैं, विहार के समय वह आकाश में चलता है ।

4. तीन छत्र – समवसरण में देशना देते समय प्रभु के सिर पर तीन छत्र सुशोभित होते हैं ।

5. ध्वजा – समवसरण में देव इन्द्र-ध्वजा की रचना करते हैं, जो विहार के समय आकाश में फरकती है ।

6. स्वर्ण कमल – परमात्मा जब विहार करते हैं, तब उनकी भक्ति के लिए देवता सुवर्ण के 9 सुकोमल कमलों की रचना करते हैं, प्रभु उन्हीं कमलों पर चलते हैं । क्रमशः एक-एक कमल आगे आता-जाता है ।

7. तीन गढ़ – समवसरण में देवता रत्न, सुवर्ण और चाँदी के तीन गढ़ बनाते हैं जो अत्यन्त ही आकर्षक, मनोहर और सुन्दर होते हैं ।

8. चार मुख – परमात्मा के सदृश रूप बनाने में कोई समर्थ नहीं है किन्तु प्रभु के अतिशय के प्रभाव से देवता प्रभु के सदृश तीन प्रतिकृतियाँ तीन दिशाओं में बनाते हैं । परमात्मा पूर्व दिशा सम्मुख बैठकर देशना देते हैं। बारह पर्षदा तो चारों दिशाओं में होती है, अतः अन्य दिशा में बैठी आत्माओं को परमात्मा का अभाव न लगे, इसके लिए देवता शेष तीन दिशाओं को परमात्मा के समान ही प्रतिकृति की स्थापना कर लेते है जिससे अन्य दिशा में बैठे प्राणियों को भी यही लगता है कि परमात्मा हमारे सम्मुख ही हैं ।

9. अशोकवृक्ष – समवसरण में परमात्मा के देह से 12 गुणी ऊँचाई वाले अशोकवृक्ष की रचना देवगण करते हैं ।

10. अधोमुखी कंटक – परमात्मा जिन-जिन क्षेत्रों से विहार करते हैं, उन-उन क्षेत्रों में रहे काँटे भी अधोमुख हो जाते हैं ।

11. वृक्षनमन – परमात्मा जिस मार्ग से विचरते हैं, उस मार्ग के दोनों ओर रहे वृक्ष भी झुक जाते हैं ।

12. देवदुंदुभि – परमात्मा के समसरण में और विहार के समय आकाश में देवता सुमधुर कर्णप्रिय देवदुंदुभि का नाद करते हैं ।

13. अनुकूल वायु – परमात्मा जहाँ विहार करते हैं, वहाँ वायु भी अनुकूल बन जाती है ।

14. पक्षी-प्रदक्षिणा – विहार के समय पक्षी भी प्रभु के चारों ओर प्रदक्षिणा देते हैं ।

15. सुगंधित जल की वृष्टि – समवसरण में वातावरण को मघमघायमान बनाने के लिए देवता सुगंधित जल की वृष्टि करते हैं ।

16. पुष्पवृष्टि – समवसरण में देवता पाँच वर्ण के जानु-प्रमाण सुगंधित पुष्पों की वृष्टि करते हैं । फिर भी प्रभु के अतिशय से उन फूलों को लेश भी पीड़ा नहीं होती है ।

17. अवस्थित केश – परमात्मा के केश-दाढ़ी, नख आदि अवस्थित रहते हैं अर्थात् घटते-बढ़ते नहीं है ।

18. कोटि देवता – भवनपति आदि चार निकाय के कम से कम एक करोड़ देवता हमेशा परमात्मा के सान्निध्य में रहते हैं ।

19. अनुकूल विषय – परमात्मा के विहार-काल व समवसरण में ऋतु भी अनुकूल रहती है और शब्द, रूप, रस, गंध तथा स्पर्श आदि भी अनुकूल होते हैं ।

प्रश्न 23 :– अरिहंत परमात्मा की वाणी की 35 विशेषताएं कौनसी है ?

उत्तर :– परमात्म-वाणी की अपनी अलौकिक विशेषताएँ हैं: जिन्हें वाणी के 35 अतिशय कहते हैं । वे निम्नलिखित हैं :–

1. संस्कारयुक्त – तीर्थंकर परमात्मा की वाणी संस्कारयुक्त होती है । संस्कृतादि लक्षण तथा व्याकरणशास्त्र के नियम से युक्त होती है ।

2. औदात्य – प्रभु की वाणी उच्च स्वर में होती है । एक योजन पर्यन्त सभी जीवात्माओं को एक समान आवाज से सुनाई देती है ।

3. उपचारपरीतता – प्रभु की भाषा ग्रामीण जन जैसी नहीं होती है । बल्कि अत्यन्त प्रौढ़ होती है ।

4. मेघगम्भीर – परमात्मा की वाणी मेघ के समान गम्भीर आवाज वाली होती है ।

5. प्रतिध्वनिकारक – प्रभु की वाणी प्रतिध्वनि करने वाली होती है ।

6. दक्षिणत्व – प्रभु की वाणी में सरलपना और दाक्षिण्य होता है ।

7. मधुर राग – प्रभु मालकोश राग में उपदेश की धारा बरसाते हैं, जिससे श्रवण में अमृत के आस्वादन का अनुभव होता है ।

उपर्युक्त सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से है ।

8. महार्थता – प्रभु की वाणी महान् अर्थवाली होती है । शब्द कम किन्तु अर्थ की बहुलता होती है ।

9. अव्याहत – प्रभु की वाणी में पूर्वापर वाक्यों में विरोध नहीं होता है अर्थात् उस वाणी में पूर्व और अपर वाक्य में घनिष्ट सम्बन्ध होता है ।

10. शिष्टतासूचक – प्रभु की वाणी अभिमत सिद्धान्त को कहने वाली होती है, उसमें कहीं भी अशिष्ट शब्द का प्रयोग नहीं होता है ।

11. असंदिग्ध – प्रभु की वाणी के श्रवण से किसी प्रकार का संदेह पैदा नहीं होता है, बल्कि पूर्व संदेह का भी निराकरण हो जाता है । प्रभु की वाणी संदेहरहित होती है ।

12. पर-प्रदत्त दूषण रहित – प्रभु की वाणी में किसी भी प्रकार का दोष नहीं होता है अर्थात् उसमें अन्य तीर्थिक किसी भी प्रकार का दोषारोपण नहीं कर सकते हैं । प्रभु तो वीतराग हैं, अतः उनकी वाणी में किसी प्रकार की भूल की सम्भावना ही नहीं है ।

13. हृदयग्राही – प्रभु की वाणी अत्यन्त मधुर और हितकर होने से सभी के लिए हृदयग्राही होती है । दीर्घकाल तक सुनने में भी कंटाला नहीं आता है ।

14. परस्पर सम्बन्ध – प्रभु की वाणी में सभी वाक्य और पद परस्पर सापेक्ष होते हैं ।

15. प्रसंगोचित – प्रभु की वाणी देश और काल के प्रसंग के अनुरूप होती है ।

16. तत्त्वनिष्ठ – देशना में जिस तत्त्व का निरूपण चल रहा हो, उसके वस्तु-स्वरूप का अनुसरण करने वाली प्रभु की वाणी होती है ।

17. अप्रकीर्ण-प्रसूतत्व – प्रभु की वाणी श्रोताओं के अनुरूप होती है । पदार्थ के अधिकार का उल्लंघन नहीं होता है और न ही अनावश्यक विस्तार वाली होती है ।

18. आत्मप्रशंसा व परनिन्दा से रहित – प्रभु की वाणी में कहीं भी स्व उत्कर्ष और दूसरे की निन्दा जैसी कोई बात नहीं आती है ।

19. आभिजात्य – प्रभु की वाणी प्रतिपाद्य विषय का अनुसरण करने वाली होती है, उसमें विषय का अतिक्रमण नहीं होता है ।

20. अति स्निग्ध – प्रभु की वाणी घी और गुड़ के भोजन से भी अधिक मधुर और सुखकारी होती है ।

21. प्रशस्य – प्रभु की वाणी अनेक गुणों से युक्त होने के कारण प्रशंसनीय बनती है ।

22. अमर्मवेधी – प्रभु की वाणी किसी के भी मर्म को उघाड़ने वाली नहीं होती है ।

23. उदार – प्रभु की वाणी महान् विषय को कहने वाली होती है, उसमें किसी प्रकार की तुच्छता नहीं होती है ।

24. धर्म के अर्थ से प्रतिबद्ध – परमात्मा की वाणी धर्म से साध्य, मोक्ष से प्रतिबद्ध होती है अर्थात् प्रभु की वाणी जीवात्माओं को भव से मुक्त और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली होती है । प्रभु की वाणी में संसार-पोषक कोई बात नहीं आती है ।

25. वचन दोष से रहित – कारक, काल, वचन तथा लिंग आदि के व्यत्यय वाले वचन के दोष से रहित प्रभु की वाणी होती है ।

26. विभ्रमादि से रहित – प्रभु की वाणी मानसिक विक्षेप आदि दोषों से रहित होती है ।

27. चित्रकृत – प्रभु की वाणी श्रोताओं के चित्त को निरन्तर आश्चर्य उत्पन्न करने वाली होती है ।

28. अद्‌भुत – प्रभु की वाणी अत्यन्त अद्‌भुत होती है अर्थात् सामान्य जन की वाणी की अपेक्षा उसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ होती है, जिसके श्रवण से परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

29. अनतिविलंबित – प्रभु की वाणी में परस्पर वाक्योचार में विलम्बित नहीं होता है । कारण कि वाक्योच्चार में विलम्बन होने पर श्रोताओं को स्पष्ट अर्थबोध नहीं होता है ।

30. अनेक विचित्रता युक्त – दुनिया में वस्तुएँ अनेक प्रकार की हैं, उन सब विचित्र प्रकार की वस्तुओं का वह वाणी नये-नये ढंग से वर्णन करने वाली होती है ।

31. विशेषतापूर्ण – सामान्य जन की अपेक्षा प्रभु की वाणी विशिष्ट प्रकार की होती है ।

32. सत्त्वप्रधान – प्रभु की वाणी सिंहगर्जना समान होती है अतः अत्यन्त साहस वाली होती है ।

33. विविक्ततापूर्ण – प्रभु की वाणी वर्ण, पद और वाक्य की पृथक्ता वाली होती है ।

34. अर्थसिद्धिवाली – प्रभु की वाणी जब तक अर्थ की सिद्धि न हो तब तक अविच्छिन्न धारा वाली होती है ।

35. अखेदित्व युक्त – एक-एक प्रहर तक निरन्तर देशना देते हुए भी प्रभु को लेश भी थकावट नहीं लगती है और श्रोताओं को भी थकावट नहीं लगती है ।

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों से युक्त परमात्मा की वाणी के श्रवण में इतना आनन्द आता है कि व्यक्ति छह मास की भूख और प्यास को भी भूल जाता है । दीर्घकाल व्यतीत हो जाने पर भी किसी प्रकार की थकावट या उद्विग्नता का अनुभव नहीं होता है ।

कैसी अद्‌भुत है परमात्मा की वाणी ! इसके वास्तविक माहात्म्य को तो प्रभु-वाणी का श्रवण करने वाला ही जान सकता है ।

2 आपके सवाल-हमारे जवाब

प्रश्न 24 :– भगवान की पूजा, पूजक को हितकारी है फिर भी चिन्तामणि रत्न की तरह उसका फल तुरन्त क्यों नहीं प्राप्त होता ?

उत्तर :– इस विषय में दीर्घद्रष्टि से विचार करने की जरूरत है। प्रत्येक वस्तु को जिस काल में फलने का होता है, वह उस काल में फलती है। कहावत है कि–**''जल्दी से आम नहीं पकते''** जैसे कि खेत में बीज बोने के बाद उसका समय पूर्ण होने पर ही अनाज पकता है, पहले नहीं।

गर्भस्थिति प्रायः नौ महीने बीतने के बाद ही प्रसूति होती है। वनस्पति, फल, फूल भी एकदम नहीं पकते। चक्रवर्ती राजा, इन्द्रदेवता प्रमुख की, की हुई सेवा तत्काल नहीं, पर समय आने पर ही फल देती है। मंत्र-जाप भी कोई हजार जाप से तो कोई लाख व कोई करोड़ जाप से सिद्ध होता है। रोगनिवारण के लिये की हुई दवा भी स्थिति पकने पर ही असर करती है। पारा सिद्ध करते बहुत समय लगता है। इस प्रकार सभी कार्य अपनी-अपनी अवधि पूरी होने पर ही फल देते हैं।

इसी प्रकार इस भव में भावसहित की हुई द्रव्यपूजा का महान् पुण्य भवान्तर में भोगा जा सकता है तथा सामान्य पूजा का सामान्य पुण्य तो कदाचित् इस जन्म में भी भोगा जा सकता है। उत्तम फल देने वाले कार्यों में ज्ञानी पुरुषों को जल्दबाजी या चिन्तातुर नहीं होना चाहिए। चिन्तामणि रत्न आदि से मिलने वाला फल, पूजा के फल की तुलना में किसी गिनती में नहीं। वह तो तुच्छ फल को देने वाला है तथा वह परभव में नहीं पर इस मनुष्य भव में ही जो अधिकतर अल्प समय के लिए होता है, उसी में फल देता है। परन्तु पूजा से उपार्जित पुण्य का फल बहुत बड़ा होने से अधिक समय में भोगने योग्य होता है। वह दीर्घकालीन देवताओं के आयुष्य में ही हो सकता है। इसलिये वह

महान् पुण्य, जीव को दूसरे जन्म में उत्पन्न होने के बाद ही उदय में आता है ।

यदि इस भव में ही वह प्राप्त हो जाय तो मनुष्य की आयु सामान्य रूप से अल्प होने से तथा मनुष्यशरीर रोगी एवं शीघ्र नाशवान होने से उसे भोगते हुए मृत्यु हो जाने से वह पुण्य रूपी डोरी बीच में ही टूट जाती है तथा उस बीच मौत रूपी महादुःख भोगना पड़ता है जिसकी तुलना में अन्य कोई दुःख विशेष भयंकर नहीं । ऐसे बड़े पुण्य का फल भोगते हुए बीच में मृत्यु का आ जाना कितना बड़ा अनिष्ट गिना जाता है ? जरा सोचो कि–

किसी गाँव की तुच्छ झोंपड़ी में रहने वाला गरीब मनुष्य, परदेश जाकर करोड़ों रुपये कमा कर घर लौट आया । वह क्या इस छोटी झोंपड़ी में अपनी अपार दौलत का भोग कर सकेगा ? कभी नहीं । उस धन का भोग करने के लिए भव्य महल-हवेली उस स्थान पर बनवानी पड़ेगी । ऐसा करने में उस पुरानी झोंपड़ी का अवश्य नाश करना ही पड़ेगा ।

झोंपड़ी की तरह तुच्छ यह शरीर है और करोड़ों की दौलत रूपी उस पूजा का महापुण्य है । जैसे झोंपड़ी में बैठे-बैठे वह पुरुष अपार धन का भोग नहीं कर सकता, वैसे ही इस क्षणभंगुर रोगी, मानव-देह में रहा हुआ जीव महापुण्य का फल नहीं भोग सकता । वह पुरुष जैसे झोंपड़ी छोड़ कर आलीशान महल बनाकर वैभव की सामग्री जुटाता है, वैसे ही जीव भी अपने अल्पकालीन झोंपड़ी-रूप शरीर को छोड़कर महल रूपी देव आदि के उत्तम शरीर को प्राप्त कर उसके द्वारा पुण्य का स्वाद दीर्घकाल तक भोगता है ।

जैसे बड़े परिश्रम से प्राप्त मूल्यवान वस्तु लम्बे समय तक भोगते रहने पर भी नष्ट नहीं होती, वैसे श्री जिनपूजादि शुभ कार्यों से उपार्जित पुण्य भी अधिक समय तक भोगते रहने पर भी समाप्त नहीं होता । अतः किसी भी समय कोई उत्कृष्ट भाव आ जाय और पूजा से महापुण्य बँध जाय तो उसी अनुक्रम से उच्च गति में पहुँच जायेंगे, यावत् श्री तीर्थंकर गोत्र का भी बँध जिन-पूजा से होता है ।

प्रश्न 25 :– सूर्याभ देवता ने श्री महावीर भगवान के पास नाटक करने को कहा, तब प्रभु मौन क्यों रहे ? वह सावद्य कार्य था इसीलिये न ?

उत्तर :– उस समय सूर्याभदेव ने क्या कहा, उस विषय में **श्री रायपसेणी सूत्र** के नीचे के पाठ पर ध्यान दो ।

''अहण्णं भंते ! देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वयंगोयमाईणं समणाणं निग्गंथाणं बत्तीसइबद्धंह नट्टविहिं उवदंसेमि ।''

''हे भगवन् ! मैं आपके सामने भक्तिपूर्वक गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों को बत्तीस प्रकार का नाटक बताऊंगा ।''

सूत्रकार तो **''भक्ति-पूर्वक''** लिखते हैं, फिर भी उसको मन से-कल्पित रूप से सावद्य कह देना कितना अनुपयुक्त है ? साथ ही सूर्याभ ने प्रश्न के रूप में नहीं पूछा, बल्कि अपनी इच्छा प्रगट की है । ऐसी बातचीत में जवाब देने की जरूरत मना करते समय ही रहती है; स्वीकार करते समय नहीं । अगर सवाल के रूप में पूछा होता तो सूर्याभ जैसा महाविवेकी भगवान के जवाब के बिना कार्य का आरम्भ नहीं करता । जैसे कोई नौकर किसी कार्य के लिए आज्ञा पाने हेतु अपने स्वामी से प्रश्न करे, फिर भी आज्ञा के रूप में जवाब प्राप्त किये बिना वह नौकर यदि कार्य शुरू कर दे तो वह महाअविवेकी और आज्ञा का उल्लंघन करने वाला ही गिना जायेगा । परम सम्यक्त्ववान् सूर्याभ को ऐसा कैसे माना जा सकता है ? भक्ति की इच्छा प्रगट करने के वाक्य में मौन रहने से, आज्ञा ही समझी जाती है और मना करना हो तभी बोलने की आवश्यकता रहती है ।

जैसे श्रावक गुरु के पास आकर इच्छा व्यक्त करता है कि–**'हे गुरुजी ! मैं आपकी भक्तिपूर्वक वन्दना करूँ ।'** अब यदि गुरु कहते हैं कि–**''हाँ, करो ।''** तो इससे स्वयं के मुख से ही स्वयं को वन्दन करने का कहने से गुरु मानलोभी कहलाता है और यदि **'ना'** कहे तो गुरुवन्दन का कार्य सावद्य कहा जाकर उसका निषेध हो जाता है । इस प्रकार–**''सरोते**

के बीच सुपारी'' जैसी दशा हो जाती है । तब इस कार्य को निरवद्य जानकर गुरु के लिए चुप रहने के सिवाय कोई रास्ता नहीं ।

जैसे कोई कसाई गुरु के पास आकर एक जीव को उसकी भक्ति के रूप से मारने का कहे तो गुरु क्या जवाब देगा ? यदि चुप रहे तो कसाई समझेगा कि–**''साधु की इस कार्य में अनुमति होने से मुझे नहीं रोकते''** और फलस्वरूप वह मारने लग जाएगा । पर यदि साधु ऐसा कहे कि, **''यह काम सावद्य होने से इसमें भक्ति नहीं है''** तभी वह मारने से रुकेगा ।

आजकाल के अल्पज्ञानी साधु भी सावद्य-निरवद्य तथा भक्ति-अभक्ति के हेतु को जानकर योग्य वर्तन करते हैं, तो फिर जगद्गुरु सर्वज्ञ भगवान अथवा गौतमस्वामी महाराज आदि नाटक-पूजा को सावद्य समझते तो क्या उसका निषेध नहीं करते ?

''भक्तिपूर्वक'' शब्द शास्त्रकारों ने काम में लिया है इससे सूर्याभदेव की भक्ति प्रधान है और भक्ति का फल भी उत्तराध्ययन सूत्र के 29 वें अध्ययन में मोक्ष तक का कहा है । क्षायिक सम्यक्त्वी, एकावतारी, तीन ज्ञान के स्वामी सूर्याभदेव क्या देव-गुरु-भक्ति की विधि को नहीं जानते होंगे । साथ ही भगवान तथा दूसरे सूत्रकारों ने भी इस कार्य में भक्ति का समावेश किया है और इसी कारण उसका निषेध नहीं किया ।

अगर मौन रहने का अर्थ निषेध ही करें तो **श्री भगवती सूत्र के 11वें शतक** में कहा है कि–श्री वीरप्रभु के मुख से बहुत से श्रावकों ने ऋषिभद्र की प्रशंसा सुनकर उनको वन्दन किया, अपराधों की क्षमा मांगी तथा बारहवें शतक में भी ऐसा उल्लेख है कि भगवान के मुख से शंखजी श्रावक की प्रशंसा सुनकर श्रावकों ने उनकी खूब वन्दना की तथा बहुत से श्रावकों ने उनसे क्षमायाचना की । इन दोनों प्रसंगों पर भगवान चुप रहे । यदि भगवान के मौन के कारण इन कार्यों को उनकी आज्ञा के विरुद्ध कहोगे तो यह बात कोई नहीं स्वीकारेगा । क्योंकि–**'भगवान**

ने सब कुछ जानते हुए भी श्रावकों की प्रशंसा क्यों की तथा वन्दन करते हुए श्रावकों को क्यों नहीं रोका ? ऐसा प्रश्न खड़ा होगा ।'

श्री जीवाभिगम, श्री भगवतीजी तथा **श्रीठाणांगसूत्र** में देवतागण श्री नन्दीश्वर द्वीप में अट्ठाई महोत्सव, नाटक इत्यादि करते हैं, उनको आराधक कहा है, न कि विराधक ।

श्री रायपसेणी सूत्र में भी सूर्याभदेव के सेवकों ने समवसरण के विषय में भगवान से कहा, तब भगवान ने उनकी प्रशंसा की है । **श्री ज्ञातासूत्र** आदि में कहा है कि श्री पार्श्वनाथजी की अनेक साध्वियाँ चारित्रविरोधी, तपस्विनियाँ बनी और अज्ञान तपस्या के प्रभाव से श्री महावीर परमात्मा के सम्मुख उन्होंने कई प्रकार के नाटक किये जिसका फल गौतमस्वामी के पूछने पर भगवान ने फरमाया कि–

''इस नाटक की भक्ति करके उन्होंने एकावतारीपने को प्राप्त किया है ।''

कितने ही कहते हैं कि–मृगापृच्छा में भी साधु यदि मौन धारण करे तो वहाँ क्या अर्थ समझना ? मृगापृच्छा में साधु को मौन रहने का कहीं भी नहीं कहा है । **श्री आचारांग सूत्र** के दूसरे श्रुतस्कन्ध में कहा है कि–

''जाणं वा नो जाणं वदेज्जा''

अर्थात्–साधु जानता हो तो भी कहे कि–मैं नहीं जानता हूँ, अथवा मैंने नहीं देखा, ऐसा ही कहे ।

श्री भगवती सूत्र के आठवें शतक के पहले उद्देश में लिखा है कि–

''सच्चमणप्पओगपरिणया...मोसवयाप्पओगपरिणया''

अर्थात्–मृगापृच्छादि में मन में तो सत्य है और वचन में मिथ्या है ।

श्री सूयगडांग सूत्र के आठवें अध्ययन में भगवान फरमाते है कि–

''सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मै वुसीमओ''

मृगापृच्छादि बिना असत्य न बोले, यह संयमियों का धर्म है । अर्थात् उस समय असत्य भाषा बोले, ऐसी प्रभु की आज्ञा है ।

प्रश्न 26 :– ज्ञान की महत्ता विशेष है या क्रिया की ?

उत्तर :– ज्ञान के बिना सत्य-असत्य का पता नहीं चलता । ज्ञान के बिना जगत् का स्वरूप समझ में नहीं आता । ज्ञान के अभाव में देव, गुरु और धर्म के लक्षणों की पहचान नहीं होती । ज्ञान के बिना धर्मक्रियायें अंधक्रियाओं की भाँति अल्प फल देने वाली होती हैं । शुद्ध ज्ञान रहित क्रिया तो केवल अज्ञान कष्ट है । उससे उच्चगति प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि जमाली, गोशालक आदि ने क्रिया पूरी पाली । उनके समान दया कौन पाल सकता था ? फिर भी भगवान की आज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति होने से वे संसार का क्षय नहीं कर सके ।

जो एकान्त क्रिया से बड़ा स्वांग रचकर, गुरु बनकर संसार को ठगते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि जमाली आदि के सामने उनकी क्रिया किस अनुपात में है ? मिथ्यात्व रूप से की हुई क्रिया के द्वारा देवगति आदि के सुख भले ही मिलें, पर उससे संसार-भ्रमणता कम नहीं होती । जंगल में रहने वाले, हाथ में ही भोजन करने वाले, महान् कष्टों को सहन करने वाले, नग्न घूमने वाले, व्रतधारी और तपस्वी मिथ्यात्वी ऋषि-मुनियों के बराबर का वर्तमान में कोई लक्षांश भाग भी क्रिया पालन करते हुए दिखाई नहीं देता, तो केवल क्रिया पक्ष वालों को तो ऐसे ही गुरु को धारण करना चाहिए ।

शास्त्रकार कहते हैं कि **''करोड़ों वर्षों तक पंचाग्नि तप-जप करके अज्ञानी क्रियावादी, आत्मा की जो शुद्धि नहीं कर सकता, उतनी आत्मशुद्धि ज्ञानी मनुष्य एक श्वासोच्छवास मात्र में करता है ।''**

श्री भगवती सूत्र में फरमाया है कि–**''क्रिया से भ्रष्ट हुआ ज्ञानी, आंशिक विराधक है और सर्व से आराधक है; जबकि ज्ञान से भ्रष्ट क्रिया करने वाला आंशिक आराधक है, पर सर्वतः विराधक है ।''**

इसीलिए कहा है कि–

''पढमं नाणं तओ दया''

अर्थात्–दया की अपेक्षा ज्ञान प्रथम श्रेणी में है ।

''हिंसा में पाप है''–ऐसा प्रथम ज्ञान होने से ही हिंसा के कार्य से दूर रहा जायेगा, अन्यथा नहीं । अतः शुद्ध ज्ञानपूर्वक की हुई क्रिया ही संसार से पार उतारने में समर्थ है, ऐसा समझकर सम्यग्ज्ञान का उपार्जन करने के लिए उद्यम करना चाहिए ।

परन्तु यह ध्यान में रखना कि ज्ञान, दया-पालन के लिए है, दया को एक ओर रखने के लिए नहीं । दया अथवा दया को लाने वाली क्रिया, इसकी ही यदि कीमत नहीं करें, तो इसके लिए प्राप्त ज्ञान की भी कीमत कुछ नहीं है । दुनिया में जीने की कीमत है, इसलिए खाने की कीमत है । यदि जीने की कीमत न होती तो इसे बनाये रखने के लिए खाने की भी कभी कोई कीमत नहीं हो सकती ।

इसी प्रकार दया की कीमत है और इसीलिए दया को लाने वाले ज्ञान की कीमत है । तप की कीमत है इसीलिए तप की महिमा समझाने वाले ज्ञान की कीमत है । श्री जिनपूजा कीमती है इसीलिए श्री जिन और उनकी पूजा का प्रभाव समझाने वाले ज्ञान की कीमत है । इससे विपरित समझाने वाले ज्ञान की कीमत, जैनशासन में फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं है ।

मोक्ष हेतु क्रिया के प्रति भाव पैदा करने वाले ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान माना है । मोक्ष जितना महान् है, उसकी प्राप्ति के उपायों को समझाने वाला ज्ञान भी उतना ही महान् है । जो ज्ञान मोक्ष एवं मोक्षमार्ग से विमुख करे, भववृद्धि के मार्ग पर ले जाये, तप, संयम तथा जिनपूजादि सद्अनुष्ठानों से आत्मा को वंचित रखे, उस ज्ञान को शास्त्रकारों ने मिथ्याज्ञान की उपमा देकर घृणा योग्य बताया है ।

संसार जितना घृणित है, उतना ही संसारवृद्धि के मार्ग पर ले जाने वाला ज्ञान भी घृणित है । ऐसे मिथ्याज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी रहना हजार गुणा अच्छा है । सम्यग्ज्ञानी की छत्रछाया में रहने वाले अज्ञानी या अल्पज्ञानी का मोक्ष होता है, परन्तु मिथ्याज्ञानी की सिद्धि शास्त्रकारों ने कहीं नहीं बताई है ।

सम्यग्ज्ञान जीव को जिनपूजादि शुभ कार्यों में लगाता है, इसलिए उस ज्ञान की वृद्धि हेतु तनतोड़ प्रयास करना सम्यग्दृष्टि आत्माओं का परम कर्त्तव्य है ।

प्रश्न 27 :– द्रौपदी ने पूर्व भव में गलत कार्य किए थे, अतः उसकी पूजा कैसे मान्य की जाय ?

उत्तर :– गत जन्म में किये गये कुकर्मों के अनुसार वर्तमान जन्म का मूल्यांकन किया जाय, तब तो अनेक महापुरुषों ने भी अपने पूर्व भवों में अनेक गलत कार्य किये हैं, अतः आपके नियमानुसार तो वे भी पूज्य नहीं गिना जायेंगे । वर्तमान गुरु आदि भी वन्दनीय नहीं रहेंगे, क्योंकि उन्होंने भी पूर्व जन्म में अनेक ऐसे कार्य किए हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें भी संसार-चक्र में भ्रमण करना पड़ा है और उन्हें कायक्लेश आदि महान् व्यथाएँ सहन करनी पड़ी हैं । यदि उन्होंने एक मात्र शुभ ही कार्य किये होते तो उनका स्थान मुक्ति में ही होता ।

पूर्व जन्म का विचार तो एक ओर रहने दें, इस जीवन में भी उन्होंने गृहस्थ जीवन में आजीविका आदि के अनेक पाप किये होंगे, अतः सबसे पहले वे ही अवन्दनीय बन जाएंगे । कर्म के प्रभाव से आत्मा को अनेक विडम्बनाएँ सहन करनी पड़ती हैं, अतः भवचक्र में पूर्व में किए गए अनुचित कार्यों के आधार पर इस जीवन का एकान्ततः मूल्यांकन नहीं हो सकता है ।

प्रश्न 28 :– पाँच पति करने वाली द्रौपदी को श्राविका कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर :– तीर्थंकर, वासुदेव, चक्रवर्ती तथा अन्य राजा महाराजा व श्रेष्ठियों के हजारों रानियाँ व स्त्रियाँ होते हुए भी शास्त्रकारों ने उन स्वदारासन्तोषी जनों को परम सम्यग्दृष्टि श्रावक गिना है और अनेक तो उसी भव में मोक्ष में भी गए हैं । इस न्याय से द्रौपदी के द्वारा पूर्वकृत निदान के फलस्वरूप जनसाक्षी में अनासक्त भाव से पाँच पुरुषों के साथ विवाह किया गया था । इस कारण उसके शीलव्रत को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच सकती है, क्योंकि शास्त्रकारों ने उसे महासती कहा

है । निदान के फलस्वरूप द्रौपदी का द्रष्टान्त एक अपवाद रूप होने से अन्य स्त्रियाँ उसका अनुसरण नहीं कर सकती हैं ।

प्रश्न 29 :– विवाह के प्रसंग में योग्य वर की प्राप्ति के लिए द्रौपदी ने कामदेव की पूजा की है, जिनप्रतिमा की नहीं, क्या यह बात बराबर है ?

उत्तर :– सोचने की बात यही है कि महान् ऋद्धिमान्, निर्मल सम्यक्त्व के स्वामी और एकावतारी सूर्याभदेव के द्वारा की गई जिनप्रतिमा की पूजाविधि का निर्देश द्रौपदी की पूजा के अधिकार में किया गया है । इससे सूर्याभदेव सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार द्रौपदी भी सम्यग्दृष्टि ही सिद्ध होती है तथा सूर्याभदेव ने जिस प्रकार श्री जिनमूर्ति की सत्रह भेद से पूजा की है, उसी प्रकार से द्रौपदी की पूजा भी सत्रह प्रकार की है, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि सम्यग्दृष्टि की और मिथ्यादृष्टि की और मिथ्यादृष्टि की देव-पूजाविधि तथा भावना में बड़ा अन्तर है । सलाह सूचना देनेवाले दोनों व्यक्ति समानधर्म का पालन करने वाले हों, तब सलाह दी जा सकती है, अन्यथा नहीं ।

द्रौपदी ने कामदेव आदि जैसे मिथ्यात्वदेव की पूजा की होती तो उसकी तुलना भी मिथ्यात्वी पुरुष की पूजा से की जाती, परन्तु यहाँ तो सूर्याभदेव जैसे दृढ़ सम्यक्त्वधारी देव के साथ तुलना की गई है तो फिर द्रौपदी को भी समकितधारी श्राविका कहने में क्या आपत्ति है ?

योग्य वर की प्राप्ति के लिए द्रौपदी ने पूजा कि होती तो उसकी स्तुति भी इस प्रकार होनी चाहिए–**'हे कामदेव ! यदि आपकी सेवा से खूबसूरत और गुणवान वर मिलेगा तो मैं अमुक कीमत की मिठाई चढाऊंगी ।'**

...परन्तु द्रौपदी ने उपर्युक्त प्रार्थना तो नहीं की है, बल्कि उसने **'नमुत्थुणं अरिहन्ताणं भगवंताणं'** अर्थात् **'अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार हो'** इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा का नाम लेकर ही स्तुति की है, फिर भी कामदेव का झूठा नाम देना योग्य नहीं है ।

'नमुत्थुणं-सूत्र' में भी उसने कौनसी मांग की है ?

'तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' अर्थात्, **''हे परमात्मा ! आप तर चुके हो और मुझे तारो । आप केवलज्ञान प्राप्त कर चुके हो और मुझे भी प्राप्त कराओ । आप कर्म से मुक्त बने हुए हो और मुझे भी कर्म से मुक्त करो ।''**

उपर्युक्त प्रार्थना के द्वारा उसने मोक्षफल की ही याचना की है । क्या अरिहन्त को छोड़कर कोई मिथ्यात्वीदेव मोक्ष देने में समर्थ है ? अथवा अनुपम गुणयुक्त अन्य कोई देव है, जिसकी इस प्रकार से स्तुति हो सकती है ?

अन्त में उसने कहा है–**'सिद्धिगइनाम-धेयं ठाणं संपत्ताणं'** सिद्धिगति नामक स्थान को जिन्होंने प्राप्त किया है । तो सोचे श्री अरिहन्त (सिद्ध) को छोड़कर अन्य कौनसे देव सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त हो चुके हैं ?

इस सूत्र में **'सुयोग्य पति की याचना'** का कोई शब्द ही नहीं है । फिर भी सम्यग्दृष्टि श्राविका के लिए अयोग्य कल्पना करना, क्या उचित है ?

प्रश्न 30 :– 'नमोत्थुणं' का पाठ अन्य देवों के पास नहीं कह सकते हैं तो फिर अम्बड़ श्रमणोपासक के सात सौ शिष्यों ने अपने गुरु के सामने वह पाठ क्यों कहा ?

उत्तर :– 'नमोत्थुणं' में वर्णित गुण अरिहन्त सिवाय अन्य किसी देव में नहीं हो सकते हैं । इस कारण शास्त्र में कहीं भी अन्य देव के सामने कहे हुए का उल्लेख नहीं है ।

अम्बड़ संन्यासी श्रावक के सात सौ शिष्यों ने **'नमोत्थुणं'** सूत्र जिस प्रकार कहा था, उसका उल्लेख **'श्री उववाई सूत्र'** में निम्नानुसार है–

'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसंपत्ताणं,
णमोत्थुणं समणस्स, भगवओ महावीरस्स,
जाव संपाविउकामस्स, नमोत्थुणं अंबडस्स,
परिवायगस्स अम्ह धम्मायरियस्स धम्मोवए सगस्स,'

अर्थ – (वे 700 शिष्य हाथ जोड़कर इस प्रकार कहते हैं ।) **'नमस्कार हो अरिहन्तों को, यावत् मोक्ष प्राप्त करने वालों को, नमस्कार हो श्रमण भगवान महावीर परमात्मा को, यावत् मुक्ति पाने की इच्छा वालों को ! नमस्कार हो अम्बड़ परिव्राजक को, हमारे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक को ।**

पाठ समझ सकेंगे कि ऊपर के प्रथम दो नमस्कारों में तो **'नमोत्थुणं'** का पाठ मोक्षगति तक का कहा और पिछले नमस्कार में अपने गुरु को वन्दन किया है, उन्हें अरिहन्त भगवान नहीं कहा है । तथा उसके स्थान पर अरिहन्त के गुणों के वर्णन वाला **'शक्रस्तव'** **'नमोत्थुणं'** नहीं कहा है । मात्र **'नमोत्थुणं'** नमस्कार हो । इतना एक पद आने मात्र से क्या सम्पूर्ण **'शक्रस्तव'** पाठ आ गया ? नहीं फिर भी ऐसा कहने वाले तो मृषावाद पाप का ही आचरण कर रहे हैं ।

प्रश्न 31 :– 'द्रौपदी ने तो केवल एक ही बार पूजा की है, इसका उल्लेख है और वह भी मिथ्यादृष्टि अवस्था में । क्योंकि निदान (नियाण) पूर्ण हुए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :– जिस सूत्र में द्रौपदी के नित्य कर्म का उल्लेख हो, उसी सूत्र में उसके नित्य पूजन का उल्लेख हो सकता है । सर्वत्र तो कहाँ से हो ? क्या एक ही एक बात शास्त्रकार बारम्बार लिखते रहेंगे ?

विवाह के समय सैकड़ों राजपुत्र आए हुए थे, उस समय की धमाल के बीच भी द्रौपदी अपने नित्यकर्म-पूजा को भूली नहीं है और उसने अत्यन्त ही विनयपूर्वक शुभ भाव युक्त होकर शक्रस्तव से परमात्मा की भक्ति की है, क्या वह अन्य शान्ति के समय परमात्मा की पूजा नहीं करती होगी ?

सूत्रपाठ से ही स्पष्ट पता चलता है कि वह नित्य पूजा करने वाली है । सम्भव है पद्मोत्तर राजा के वहाँ पराधीन अवस्था में रहने के कारण वे जिनमन्दिर आदि की सामग्री का अभाव होने से उसने पूजा

नहीं की हो, फिर भी वहाँ रहते हुए भी छट्ठ, अट्ठम आदि तपश्चर्या स्वाधीन होने से, उसने की ही है ।

जिनपूजा की बात का तो एक बार उल्लेख भी हुआ है, परन्तु भोजन-पान-शयन आदि का तो एक बार भी उल्लेख नहीं हुआ है, तो क्या वह वे कृत्य नहीं करती होंगी ?

तुंगिया नगरी के श्रावकों ने साधुओं को एक बार वन्दन किया था इस बात का उल्लेख है तो क्या उन्होंने दूसरी बार वन्दन नहीं किया होगा ?

पूजा करते समय द्रौपदी को सम्यक्त्व था, वह बात आगे सिद्ध कर चुके हैं । निदान की पूर्णाहुति के पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है–यह बात करना सर्वथा प्रमाण रहित है ।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध में नौ प्रकार के निदान कहे गए हैं, उनमें 7 प्रकार के निदान तो कामभोग के हैं । वे यदि अत्यन्त तीव्र रस से बाँधे हों तो सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है और मन्दरस से बाँधे हों तो सरलता से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है ।

जैसे–**'कृष्ण का वासुदेव पद प्राप्ति का निदान मन्द रस वाला होने से वे सम्यक्त्व को प्राप्त कर सके हैं ।'**

यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि **'कृष्ण को वासुदेव की पदवी मिलते ही उनका निदान पूरा होने से उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है और द्रौपदी को पाँच पति की प्राप्ति होते ही उसका निदान पूरा हुआ है'**–तो यह कहना भी उचित नहीं है ।

निदान समस्त भव आश्रित होने से उसका फल जिन्दगी पर्यन्त भुगतना पड़ता है । निदान वाली वस्तु की प्राप्ति होने के साथ ही यदि निदान पूरा हो जाता हो, तो फिर उस वस्तु का तुरन्त वियोग अथवा नाश होना चाहिए परन्तु वैसा तो बनता नहीं है । कृष्ण वासुदेव ने तो जिन्दगी पर्यन्त वासुदेव की पदवी का भोग किया है और द्रौपदी भी अपने पाँच पतियों की हाजरी में ही देवलोक में गई है ।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध में नौवाँ निदान दीक्षा का है...तो फिर दीक्षा

लेने के साथ ही वह निदान पूरा हो जाना चाहिए, परन्तु शास्त्रकारों ने तो निदान वाले को उसी भव में मोक्ष में जाने का निषेध बतलाया है ।

कोई तापस अपनी तपस्या के प्रभाव से आगामी भव में राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का निदान करता है तो वह तापस किसी राजा के वहाँ पुत्र के रूप में जन्म प्राप्त कर, योग्य वय में राजगद्दी पर बैठने के साथ ही उसका निदान पूरा हो जाने से वह दरिद्र बनेगा या राज्य का जीवन-पर्यन्त भोग करेगा ?

तात्पर्य यही है कि मन्दरस के निदान वाले को सम्यक्त्व प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती है । परन्तु उत्कृष्ट रस वाले निदान वालों को तो वीतराग का धर्म सुनने का भी अवसर नहीं मिलता है, जब कि द्रौपदी ने तो पीछे से संयम स्वीकार किया है ।

जिस प्रकार कृष्ण महाराजा सम्यग्दृष्टि श्रावक थे, उसी प्रकार द्रौपदी भी सम्यग्दृष्टि श्राविका थी तथा जीवन पर्यन्त वह सम्यक्त्व में दृढ़ रही थी । **श्री ज्ञाता सूत्र** में भी लिखा है–

''जब द्रौपदी के पास नारद मुनि आए तब उन्हें असंयत, अविरत और अपच्चक्खाण वाले जानकर उसने सम्मान नहीं दिया, खड़ी होकर उसने नमस्कार भी नहीं किया ।''

उसी सूत्र में आगे कहा है–**''पद्मोत्तर राजा के अन्तःपुर में रहकर भी वह हमेशा छट्ठ, अट्ठम आदि तपस्या तथा आत्मा की भावना करती थी ।''**

इस प्रकार की प्रवृत्ति शुद्ध श्राविका हुए बिना कैसे सम्भव है ?

श्री भगवती सूत्र में जघन्य से एकव्रत को भी स्वीकार करने वाले को श्रावक कहा है । तथा उस सूत्र में पच्चक्खाण को उत्तर गुण में लिखा गया है । श्री **'दशाश्रुतस्कन्ध'** में **'दंसण सावए'** कहकर सम्यक्त्वधारी जीव को भी श्रावक गिना है तथा **'प्रश्न व्याकरण'** सूत्र की वृत्ति में द्रौपदी को परम श्राविका कहा है ।

कहीं भी ऐसा नहीं कहा गया है कि **'विवाह के पूर्व तो द्रौपदी मिथ्यादृष्टि थी और उसके बाद सम्यग्दृष्टि हो गई'** इससे सिद्ध होता

है कि वह बाल्यकाल से ही दृढ़ श्राविका और सम्यक्त्वधारी थी तथा निदान से उसके धर्मकार्य में कोई बाधा नहीं पहुँची है ।

प्रश्न 32 :– स्त्री के द्वारा की गई पूजा को प्रमाण रूप कैसे मान सकते हैं ?

उत्तर :– यदि इस मान्यता का स्वीकार करेंगे तब तो चारित्र का पालन करने वाली साध्वी स्त्री के भी सम्यक्त्व सम्बन्धी आचरण को मान्य नहीं कर सकेंगे । स्त्री द्वारा गृहीत संयम भी निरर्थक हो जाएगा और ऐसी मान्यता से तो चतुर्विध संघ का एक स्तम्भ ही कमजोर हो जाएगा ।

शास्त्र में लिखा है–**'अनेक स्त्रियाँ उत्तम प्रकार के धर्म की आराधना कर मोक्ष में गई हैं ।'** मरुदेवी माता इस अवसर्पिणी में सर्वप्रथम सिद्ध हुई हैं । **श्री मल्लिनाथ स्वामी** स्त्री रूप में तीर्थंकर हुए हैं । चन्दनबाला ने महावीर प्रभु का अभिग्रह पूर्ण किया था । इत्यादि अनेक प्रशंसनीय कार्य इस काल चक्र में स्त्रियों ने किए हैं ।

पुरुषों को तो पूजा की सामग्री मिलना सुलभ है परन्तु स्त्रियों को दुर्लभ होने पर भी द्रौपदी ने पूजा की है । इसी कारण उसके शुभ कार्य की शास्त्रकर्त्ताओं ने विस्तार से प्रशंसा की है । इससे तो यह सिद्ध होता है कि पुरुषों को तो पूजा का कार्य अवश्य करना चाहिए ।

प्रश्न 33 :– द्रौपदी की पूजा के लिए सूर्याभदेव की पूजा का सूचन किया, तब किसी श्रावक की पूजा का सूचन क्यों नहीं किया ?

उत्तर :– शास्त्रकार महर्षि श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने **श्री रायपसेणी सूत्र** में सूर्याभदेव के अधिकार में श्री जिनप्रतिमा की पूजा का सविस्तार वर्णन किया है, उसका निर्देश अन्य स्थान में किया है । क्योंकि एक ही बात का उल्लेख बारम्बार करने में आए तब तो शास्त्र का प्रमाण अत्यधिक बढ़ जाता है । उस भय से शास्त्रकार महर्षि एक-दूसरे सूत्र का निर्देश कर देते हैं । श्री महावीर परमात्मा तथा गणधर भगवन्तों ने तो हर स्थान पर सम्पूर्ण वर्णन किया था, परन्तु शास्त्रकार सूत्र को संक्षिप्त करने की इच्छा से एक-दूसरे सूत्रों का निर्देश कर देते हैं ।

दूसरा कारण यह है कि कई लोग **'शाश्वती जिनप्रतिमाओं की**

देवता पूजा करते हैं', यह बात तो स्वीकार करते हैं, किन्तु अशाश्वती मूर्ति मानने का निषेध करते हैं । उनके अन्तर्चक्षु खोलने के लिए ही सूर्याभदेव की उपमा दी गई है । जैसे-**श्री रायपसेणी सूत्र** के कथनानुसार देवतागण निरन्तर शाश्वती मूर्तियों की पूजा कर अपना हित तथा कल्याण साधते हैं और अनुक्रम से मोक्ष की साधना करते हैं । उसी प्रकार श्रावक और श्राविकाएँ भी यहाँ रहकर श्री जिनप्रतिमा के पूजन से उनके (देवताओं) समान आत्म कल्याण साधकर संसार-समुद्र का पार पा सकते हैं ।

शास्त्रकारों का यह भी अभिप्राय है कि–शाश्वती और अशाश्वती दोनों प्रकार की मूर्तियों के पूजन से एक समान फल प्राप्त होता है ।

शाश्वती प्रतिमा का आदर करने के बाद अशाश्वती प्रतिमा का अनादर करना, महामूर्खता का ही काम है । दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ एक समान सम्माननीय हैं । क्योंकि वे दोनों एक ही देव की हैं, अलग-अलग देव की नहीं है कि जिससे एक का बहुमान और दूसरे का अबहुमान हो जाय ।

एक कारण यह भी है कि देवताओं की शक्ति अचिन्त्य होने से वे जितने भाव से पूजा करते हैं, उतने भाव से प्रायः मनुष्य न कर सके, फिर भी द्रौपदी मनुष्य और उसमें भी स्त्री होने पर भी उसने महान् सूर्याभदेव के समान बड़े आडम्बर के साथ जिनपूजा की है तथा सूर्याभदेव जैसे निश्चय सम्यग्दृष्टि है उसी प्रकार द्रौपदी भी परम श्राविका है । यह बात बताने का भी शास्त्रकारों का उद्देश्य है ।

जिस विधि से शाश्वती प्रतिमाएँ पूजी जाती हैं, उसी विधि से अशाश्वती प्रतिमाएँ पूजने से भी, अपने-अपने भाव के अनुसार समान फल प्राप्त कर सकते हैं, यह बात भी फलित हो जाती है ।

अन्य किसी श्रावक की उपमा न देने का कारण यह भी है कि आनन्द आदि श्रावकों के वर्णन में शास्त्रकारों ने पूजाविधि में सूर्याभदेव के अधिकार की तरह सम्पूर्ण विवेचन नहीं किया है, अतः दूसरों का

निर्देश कैसे हो सकता है ? जिस स्थान में विशेष जानकारी दी हो, उस स्थान का नाम ही दिया जाता है ।

प्रश्न 34 :– श्री भगवती सूत्र में कहा है–'यदि कोई साधु नन्दीश्वर द्वीप जाय और वापस भरतक्षेत्र में आकर 'इरियावहिय' प्रतिक्रमण किए बिना कालधर्म पा जाय तो जिनाज्ञाविराधक बनता है और आलोचन करने के बाद काल करे तो आराधक कहलाता है ।'' तथा श्री समवायांगसूत्र में भी कहा है कि ''जंघाचारण और विद्याचारण मुनि 17000 योजन से कुछ अधिक सीधे आकाश में उड़कर फिर तिरछी गति करते हैं'' इस प्रकार मुनियों के गमनागमन को सिद्ध करने वाले बहुत से पाठ हैं । परन्तु नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए जाते समय जो आलोचना आती है तो फिर उस यात्रा से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– वहाँ जो आलोचना है वह तो प्रमादगति की है । लब्धि का उपयोग करने से मुनियों को प्रमादगति होती है, उसकी यह आलोचना है परन्तु चैत्यवन्दन आदि की आलोचना नहीं है । तीर के वेग के समान चारण मुनियों की गति का उतावला स्वभाव होने से मार्ग में शाश्वत-अशाश्वत जिनमन्दिर रह जाते हैं, उसका मन में खेद उत्पन्न होता है । वह भी प्रमादगति है । इसलिए उसकी आलोचना आती है ।

श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि साधु गोचरी लाकर गुरु के पास सम्यक् प्रकार से आलोचना करे-वह आलोचना गोचरी की नहीं, परन्तु उसमें प्रमाद के कारण आने-जाने से उपयोग नहीं रहने से जो कोई दोष लगा हो, उसकी आलोचना की जाती है । साधु को जाते-आते, प्रतिक्रमण अथवा अन्य कोई क्रिया करते आलोचना के रूप में **'इरियावहिय'** प्रतिक्रमण करने का है । वह प्रमाद को लेकर है न कि शुभ क्रियाओं को लेकर ।

प्रश्न 35 :– जंघाचारण तथा विद्याचरण मुनि श्री नन्दीश्वर द्वीप में 'चेइयाइं' शब्द से ज्ञान का आराधन करते हैं, किन्तु प्रतिमा को वन्दन नहीं करते हैं । क्या यह बात बराबर है ?

उत्तर :– श्री ठाणांग तथा **श्री जीवाभिगम सूत्र** में नन्दीश्वर आदि द्वीपों में शाश्वती प्रतिमाएँ होने का कथन विस्तारपूर्वक है। जम्बूद्वीप पण्णत्ति सूत्र में मानुषोत्तर पर्वत के 31 कूटों के नाम गिनाकर प्रत्येक कूट पर तथा देवताओं के समस्त भवनों में सिद्धायतन (जिनमन्दिर) को बताने वाले पाठ हैं। उनकी वन्दना करने के लिए लब्धिवन्त मुनि जाते हैं। ऐसा प्रायः सर्व जैन मानते हैं। फिर भी **'चेइयाइं'** शब्द का अर्थ मनः–कल्पित **'ज्ञान'** कर उत्सूत्र प्ररूपणा करना महादोषयुक्त कार्य ही है **'चैत्य'** शब्द का ज्ञान अर्थ किसी भी व्याकरण को सम्मत नहीं है। ज्ञान तो अरूपी वस्तु होने से उसका ध्यान तो घर बैठे भी हो सकता है। इसके लिए श्री नन्दीश्वर द्वीप जाने का क्या कार्य है ? तथा ज्ञान तो एकवचन में है और **'चेइयाइं'** शब्द बहुवचन में है–इससे भी उसका अर्थ **'प्रतिमा'** को छोड़कर अन्य नहीं हो सकता है।

प्रश्न 36 :– देवताओं को श्री भगवती सूत्र में 'नो धम्मिआ' कहा गया है। उनके द्वारा की गई मूर्तिपूजा कैसे प्रामाणिक मानी जाय ?

उत्तर :– उस स्थान में तो चारित्र की उपेक्षा से **'नो धम्मिआ'** कहा गया है। जैसे **श्री भगवती सूत्र** में देवताओं को **'बाल'** कहा गया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग में से देवताओं को सम्यग्ज्ञान और दर्शन होता है परन्तु चारित्र की प्राप्ति नहीं होने से उन्हें **'नो संयति'** भी कहा गया है। **श्री ठाणांग सूत्र** में सम्यक्त्व को संवर धर्म कहा है। जिनप्रतिमा का पूजन सम्यक्त्व का आचरण है, उस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि देवों को चारित्र की अपेक्षा **'बाल' 'नो संयति'** और **'नो धम्मिआ'** कहा है, किन्तु सम्यग्दर्शन या ज्ञान की अपेक्षा से नहीं।

श्री भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के चौथे उद्देश में कहा है कि–

''देवाणं भंते। असंजताति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो तिणट्ठे, णिट्ठरवयणमेयं। देवाणं भुंते ? संजयासंजयाति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो तिणट्ठे समट्ठे, असब्भूयमेयं देवाणं, से किं खाति णं भंते ! देवाति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! देवाणं नो संजयाति वत्तव्वं सिया।''

इससे सिद्ध होता है कि देवताओं को असंयती नहीं कह सकते हैं और ऐसा कोई बोले तो वह महानिष्ठुर वचन कहलाता है । देवताओं को संयति कहे तो अभ्याख्यान लगता है और देवों को संयतासंयति कहें तो असद्भूतवचन कहलाता है अतः देवताओं को **'नो संयति'** कहना ही जिनेश्वरदेवों की आज्ञा है ।

'नो संयति' का अर्थ अधर्मी करोगे तो प्रश्न खड़ा होगा देवताओं को असंयति (अधर्मी) कहने का निषेध क्यों किया ?

'नो धम्मिआ' और **'नो सयति'** का अर्थ **'धर्मी नहीं' 'संयति नहीं'** ऐसा करेंगे तो आज्ञाभंग के दोष के बावजूद दूसरे भी दोष आ जाएंगे ।

सूत्रों में स्थान-स्थान पर **'नो कषाय', 'नो इन्द्रिय', 'नो सन्ना' 'नो आगम'** इत्यादि शब्द आते हैं, उनका अर्थ अकषाय, अनिन्द्रिय अनागम इत्यादि करोगे तो शास्त्र विरुद्ध अर्थ हो जाएंगे । ऐसे स्थान पर **'नो'** का अर्थ सर्व निषेध नहीं किन्तु देश निषेध करना चाहिए । इसी न्याय से **'नो संयत'** आदि पदों का अर्थ अधर्मी अथवा असंयति न कर ईषद्धर्मी, ईषद्संयमी आदि करना चाहिए ।

श्री आचारांग, श्री दशाश्रुतस्कन्ध तथा **श्री ज्ञातासूत्र** में भी कहा है३ कि लोकान्तिकदेव अनन्त काल से ही स्वयंबुद्ध तीर्थंकर परमात्मा को दीक्षाकाल का स्मरण कराते हुए कहते हैं–**''हे भगवन् ! जगत् को हितकर तीर्थ प्रवर्ताओ ।''** ऐसे विवेकी देवताओं को कौन अधर्मी कह सकेगा ?

श्री दशवैकालिक सूत्र में देवताओं को मनुष्य की अपेक्षा महाविवेकी और बुद्धिमान् कहा है ।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मो सया मणो ।।

अर्थ – जिसका मन धर्म के विषय में सदा प्रवर्तमान है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं (तो फिर मनुष्य करें, उसमें क्या आश्चर्य है !)

श्री ठाणांग सूत्र में देवतागण किस प्रकार शुद्ध भावना कर, अपनी आत्मा की निन्दा करते हैं और अपने पूर्व जन्म के गुरु का कितना अधिक सम्मान करते हैं, वह नीचे के पाठ से ख्याल में आ जाएगा–

'अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए अगिद्धे, अगढिए अणज्झोववन्ने, तस्स णं एवं भवइ अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरितेति वा उवज्झाएति वा पवत्तीति वा थेरेति वा गणीति वा गणधरेति वा गणवच्छेएति वा जेसिं पभावेणं मए इता एतारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती लद्धा पत्ता अभिसन्नागया, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि !'

अर्थ – देवलोक में नवीन उत्पन्न देव दिव्य कामभोग में मूर्च्छित नहीं होता है । कामभोगों को अनित्य जानकर अतिगृद्धअति आसक्त नहीं बनता है । वह मन में सोचता है कि **''मेरे मनुष्य भव के धर्मोपदेष्टा आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणि, गच्छ के स्वामी तथा जिनके प्रभाव से इस प्रत्यक्ष देव ऋद्धि, दिव्य कान्ति, दिव्य प्रभाव को मैं प्राप्त कर सकता हूँ, अतः मैं वहाँ जाकर उपकारी भगवन्त को वन्दन करूंगा, नमस्कार करूंगा, सत्कार व सम्मान करूंगा, कल्याण-कारी-मंगलकारी देव चैत्य अर्थात् जिन प्रतिमा की सेवा करूंगा ।''**

और भी कहा है–

'एसणं माणुस्सए भवे णाणीति वा तवस्सी ति वा अइदुक्कर दुक्करकार्ते, तं गच्छामि णं ते भगवते वंदामि जाव पज्जुवासामि ।' (ठाणांग सूत्र)

भावार्थ–(देवता ऐसा विचार करते हैं कि) मनुष्य भव में बड़े-बड़े ज्ञानी महात्मा हैं, तपस्वी हैं, अति उत्कृष्ट आचरण करने वाले हैं, सिंहगुफा के पास, सर्प बिल के पास कायोत्सर्ग करने वाले हैं, दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, अतः मैं जाकर ऐसे भगवान को वन्दन करूँ, नमस्कार करूँ और उनकी सेवा भक्ति करूँ ।

पुनः वे पश्चात्ताप करते हैं कि–

''अहो ! दस दृष्टान्त से दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर पूर्वभव में गुरु भगवन्त के योग से तप संयम का स्वीकार करने पर भी मैंने प्रमाद का त्याग नहीं किया । तप-संयम का सुन्दर रीति से पालन नहीं किया, आलस्य से गुरु तथा साधर्मिक की वैयावच्च बराबर नहीं की, सिद्धान्त का अध्ययन नहीं किया, चारित्र की मर्यादाओं की दीर्घकाल तक बराबर पालन नहीं किया, अब ऐसे संयोग मुझे पुनः कब प्राप्त होंगे ? और कब मैं हृदय में शुभ ध्यान करूंगा ? मोक्षपद को मैं कब प्राप्त करूंगा ।' जिससे गर्भावास में आने का मेरा सदा काल के लिए छूट जाय ।''

श्री ठाणांग सूत्र के कथनानुसार अनेक प्रकार से शुभ भावनाओं में लीन रहने वाले तथा जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले देवताओं को अधर्मी कैसे कहा जाए ?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन में देवगति का लाभ मनुष्य को कहा गया है और आचार्य भगवान कहते हैं कि–**'हम भी उसकी उसी प्रकार से श्रद्धा करते हैं ।'**

'धीरस्सयस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ।।1।।

भावार्थ – इस मनुष्य भव में वीतराग प्रणीत तप-संयम की साधना कर देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए ।

यदि उन देवों को अधर्मी कहेंगे तो क्या जिनराज द्वारा कथित तप और संयम की उन्होंने अधर्मी बनने के लिए साधना की थी, वर्तमान में साधना कर रहे हैं और भविष्य में साधना करेंगे ? यदि सर्व देवों को असंयति ही गिनेंगे तो तप-संयम की साधना से वीतराग धर्म को खो देने की ही प्रवृत्ति होगी और मिथ्यात्व की ही प्राप्ति होगी, इससे तो तप-संयम की क्रिया ही दुर्गति का कारण बन जाएगी ।

वर्तमान में इस क्षेत्र में मोक्ष तो है नहीं, तो फिर अच्छे-अच्छे क्रियापालन और तप-संयम का आचरण करने वाले देवगति में जाकर

मिथ्यात्व में गिर जाएंगे ? अतः सर्व देवताओं को अधर्मी कहना भयंकर मूर्खता ही है ।

सम्यग्दृष्टि देवों ने तो कई साधुओं और श्रावकों को उपदेश देकर जैनधर्म में स्थिर किया है और उन्हें दुर्गति में जाने से रोका है । इसके लिए निम्नांकित शास्त्रीय प्रमाण है–

श्री निरयावली सूत्र में कहा है कि **'महामिथ्यात्वी सोमिल तापस रात्रि में ध्यान लगा कर, नेतर जैसे कोमल काष्ठ की मुखमुद्रा बनाकर, मुख में डालकर और दोनों किनारों को कान में डालकर, उत्तर दिशा में मुख करके बैठा है ।'**

वहाँ एक देव ने आकर कहा–**'हे सोमिल ! यह तेरी प्रव्रज्या दुःप्रव्रज्या है । अतः जिनेश्वर कथित सुप्रव्रज्या को स्वीकार कर ।'**

परन्तु सोमिल ने उस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । इस प्रकार देव पाँच दिन तक कहता रहा कि **''हे सोमिल ! यह तेरी दीक्षा झूठी है यह तेरा कष्ट अज्ञान कष्ट है अतः बारबार विचार कर ।''** इस प्रकार बारबार इन हितवचनों को सुनकर सोमिल ने शुद्ध जैनधर्म को मान्य किया । मिथ्यात्व के दुष्कृत की आलोचना की और शुद्ध तप-जप व संयम का आराधन कर अन्त में महाशुक्र देवविमान में उत्पन्न हुआ । वह आगामी भव में मोक्ष में जाएगा । उसने श्री महावीर परमात्मा के सामने नाटक भी किया था ।

श्री उपासकदशांग में लिखा है–**'गोशालक मत के उपासक सद्दालपुत्र को देवता ने महावीर स्वामी के पास जाने का उपदेश देकर धर्म में दृढ़ किया था ।'**

जरा सोचें, वह देव सम्यग्दृष्टि नहीं होता तो श्री महावीर प्रभु के पास क्यों भेजता ?

श्री ज्ञातासूत्र में कहा है–**'महामोहान्ध तेतलीपुत्र मंत्री को पोटिल नामक देव ने बहुत से उपाय करके धर्मबोध दिया । जिससे उसने जैन दीक्षा स्वीकार की और उसके बाद केवलज्ञान प्राप्त किया ।'**

धर्म के प्रति गाढ़ प्रीति वाले देवों के हृदयकमल में सम्यक्त्व जीवन्त हो, तभी उपर्युक्त प्रवृत्ति सम्भव है । मिथ्यात्वी देवों को इस प्रकार की धार्मिक अभिलाषा सम्भव नहीं है ।

इतना जानने पर भी यदि कोई देवताओं के आचरण को अधर्म रूप मानेंगे तो यह केवल अज्ञानता ही है । एक देव तीर्थंकर, साधु व श्रावक पर उपद्रव करता है और दूसरा भक्तिपूर्वक उसका निवारण करता है तो उन देवों को एक समान फल मिलेगा या भिन्न-भिन्न ? आपके मतानुसार तो एक समान फल मिलना चाहिए—परन्तु वैसा कभी नहीं बन सकता है । यदि कोई शिष्य देव रूप में उत्पन्न होकर अपने पूर्व के गुरु को चारित्र से पतित जानकर प्रतिबोध करे तो उस देव को धर्मी गिनेंगे या अधर्मी ?

प्रश्न 37 :— चौथे गुणस्थानक में रहे हुए देवताओं द्वारा की गई मूर्तिपूजा को पाँचवे-छठे गुणस्थानक में रहे हुए मनुष्य कैसे मान्य कर सकते हैं ? देव तो अपना जीत-आचार समझकर पूजा करते हैं, उसमें पुण्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर :— चौथे गुणस्थानक में जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस गुणस्थानक से चौदहवें गुणस्थानक तक जीवों की धर्मश्रद्धा एक समान होती है । उस श्रद्धा में थोड़ा भी फर्क नहीं होता है । यद्यपि उनकी निर्मलता में अन्तर हो सकता है, परन्तु उस अन्तर की यहाँ बात नहीं है ।

चौथे गुणस्थानक में अमुक देव आदि तत्त्वों के विषय में श्रद्धा और आगे के गुणस्थानकों में उन तत्त्वों के विषय में श्रद्धाभेद होता हो, ऐसी बात नहीं है । उस-उस स्थिति में रहे हुए जीव अन्य (मिथ्या) देव-गुरु का चारों निक्षेप से त्याग करते हैं तथा अरिहन्तादि के चारों निक्षेपों को मान्य करते हैं—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

चौथे गुणस्थानक में रहे जीव को व्रत-पच्चक्खाण नहीं होते हैं तथा पाँचवें गुणस्थानक वाले जीव को होते हैं-यह अन्तर जरूर है, परन्तु सम्यक्त्व तो दोनों को होता है ।

भगवान ने सम्यग्दृष्टि अनेक देवों को मोक्षगामी और एकावतारी कहा है । यदि वे अधर्मी हों तो उन्हें मोक्ष की प्राप्ति इतनी शीघ्र कैसे सम्भव है ?

तप-संयम की आराधना से पूर्वोपार्जित निकाचित पुण्य को भोगे बिना छुटकारा नहीं है तथा देव-भव में चारित्र का उदय नहीं होने से उस भव में मोक्ष सम्भव नहीं है, इसलिए उन्हें मनुष्य गति में अवश्य आना पड़ता है-परन्तु इससे देवता अधर्मी नहीं बन जाते हैं ।

श्री उपासकदशाश्रुतस्कन्ध में कहा है-गोशालक के भक्त मिथ्यात्वी देव ने कुण्डकोलिक श्रावक को जैनधर्म से भ्रष्ट करने के लिए बहुत से उपाय किए थे । कुण्डकोलिक ने अनेक युक्तियों से उस देव को समझाने का प्रयास किया, परन्तु उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी । अतः सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में काफी अन्तर सिद्ध होता है ।

चौबीस तीर्थंकर गृहस्थावस्था में चौथे गुणस्थानक में होते हैं । उन्हें धर्मी कहें या अधर्मी ?

श्री महावीर परमात्मा, अपने माता-पिता के स्वर्गवास के बाद भी कुछ समय तक गृहस्थ जीवन में रहे । सर्व ममता से रहित और रागद्वेष से विरक्त बने हुए थे फिर भी उनका गुण स्थानक चौथा ही था । भरत चक्रवर्ती गृहस्थपने में चौथे गुणस्थानक पर थे, फिर भी वे आगे केवली हो गए अतः देवताओं को चौथे गुणस्थानक में रहने के कारण ही अधर्मी कहेंगे-तब तो ऊपर के सब महात्मा भी अधर्मी सिद्ध हो जाएंगे ।

शुद्ध भाव से ही मुक्ति है । वह भाव, ज्ञान-दर्शन और चारित्र से पैदा होता है और ज्ञान-दर्शन की शुद्धि के लिए मूर्तिपूजा का विधान है । इस कारण देवताकृत जिनपूजा भी धर्म ही गिनी जाएगी-अधर्म नहीं ।

देवता के शुभ आचार-पालन को जीत-आचार में गिनकर भी उत्थापित नहीं कर सकते हैं ।

प्रथम तो **जीत आचार** किसे कहते हैं ? यह समझना चाहिए ।

जीत अर्थात् अवश्य करने योग्य । अवश्य करने योग्य कार्य को जीताचार कहते हैं । जैसे-श्रावक को जीत व्यवहार से रात्रि-भोजन का

त्याग, अभक्ष्य-अनन्तकाय का त्याग, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं का पालन करना चाहिए ।

इससे पुण्यबन्ध होगा या नहीं ?

यदि आप कहेंगे कि पुण्यबन्ध होगा तो फिर देवता जीता-चार से मूर्तिपूजा करें तो उससे पुण्यबन्ध होगा या नहीं ?

जिस समय सूर्याभदेव आभियोगिक देवताओं के साथ में श्री महावीर प्रभु के पास आकर वन्दनपूर्वक समवसरण की रचना कर, भक्ति करने की इच्छा व्यक्त करता है, उस समय वीरप्रभु ने कहा था–

''पोराणमेयं देवा० जीयमेयं देवा० कीयमेयं देवा०, करणिज्जमेयं देवा० आचीन्नमेयं देवा० अब्भणुन्नायमेयं देवा० ।''

भावार्थ – चिरकाल से देवताओं ने यह कार्य किया है । हे देवानुप्रिय ! तुम्हारा यह आचार है, तुम्हारा यह कर्त्तव्य है, तुम्हारे लिए करणीय है, तुम्हारे लिए आदरणीय है । मैंने तथा अन्य समस्त तीर्थंकरों ने इसकी अनुज्ञा प्रदान की है ।

(श्री रायपसेणी सूत्र)

साक्षात् श्री तीर्थंकरदेव भी जिसके आचरण की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं और करने के लिए अनुमति देते हैं, उसे निरर्थक या पापप्रवृत्ति कहने के लिए कौन समर्थ है ?

भगवान के पाँचों कल्याणकों में देवता बड़ा महोत्सव करते हैं–यह बात **'श्री जंबूद्वीप पन्नत्ति'** सूत्र में कही गई है ।

श्री जिनेश्वरदेव के अस्थि आदि को किस प्रकार असुरकुमार देव-देवी तथा चमर-असुरेन्द्र आदि शुभभाव से पूजते हैं, उसका वर्णन तथा फल, श्री गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने बतलाया है, जो निम्नांकित सूत्र से स्पष्ट है–

''चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमारन्नो अन्नेसिं च बहूणं असुरकुमाराणां देवाणं देवीणयं अच्चमिज्जाओ वंदणीज्जाओ नमंसणिज्जाओ, पूयणिज्जाओ, सक्कारणिज्जाओ, समाणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति ।''

भावार्थ :– वे दाढ़ाएँ (अस्थियाँ) चमर असुरेन्द्र असुरकुमार देव तथा देवियों के लिए अर्चन योग्य, वन्दन योग्य, नमन योग्य, पूजन योग्य, सत्कार योग्य, सम्मान योग्य तथा कल्याणकारी मंगलकारी देव सम्बन्धी चैत्य (जिनप्रतिमा) के समान सेवा करने योग्य है ।

श्री जंबूद्वीप पन्नत्ति में भी दाढ़ाओं के अधिकार में कहा है कि **'केइ जिणभत्तीए'** अर्थात् कई देव जिनभक्ति मानकर तथा कई धर्म मानकर प्रभु की दाढ़ाओं को लेते हैं ।

इस प्रकार की भक्ति करने वाले देवों को अधर्मी कैसे कह सकते हैं ?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भक्ति का फल यावत् मोक्ष और **श्री रायपसेणी** के आधार पर जिनपूजा का भी उतना ही फल सर्वज्ञ परमात्माओं ने बतलाया है । उसे निरर्थक कैसे गिन सकते हैं ?

इतना होने पर भी जीताचार से पुण्य व पाप दोनों के बन्ध का निषेध कहोगे तो फिर शास्त्र में **'जीव समय-समय में सात आठ कर्म का बन्ध करता है'** यह बात कैसे संगत होगी ?

यदि कह दो कि पापबन्ध होता है, तो वह बात बिल्कुल झूठ है, क्योंकि भगवान ने तो उस आचरण का फल मोक्ष बतलाया है ।

पूजा के समय तो देवता उत्कृष्ट शुभ भाव में रहते हैं तो उस शुभ भाव का फल अशुभ मिले, यह कैसे सम्भव है ? भक्ति करने वाले मनुष्यों को तो पुण्यबन्ध और देवताओं को पापबन्ध हो-यह कैसा प्रलाप है ?

प्रश्न 38 :– देवता सो सम्पूर्ण जीवन में एक ही बार मूर्तिपूजा करते हैं, फिर नहीं । तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों वर्ग के देव वैसा करने के कारण उसे जीताचार कहते हैं, परन्तु शुभ आचरण नहीं ?

उत्तर :– श्री रायपसेणी सूत्र में सूर्याभदेव ने जब पूछा कि–**'मुझे आगे तथा पीछे हितकारी और करने योग्य क्या है ?'** तब सामानिक देवों ने कहा–**''तुम्हें आगे तथा पीछे श्री जिनेश्वरदेव की पूजा हितकारी**

और करने योग्य है ।'' इससे सम्यग्दृष्टि सूर्याभदेव ने श्री जिनप्रतिमा की पूजा नित्य करणीय और हितकारी समझकर नित्य की है, ऐसा समझना चाहिए ।

किसी भी मिथ्यादृष्टि देव ने श्री जिनपूजा की हो, उसका उल्लेख किसी भी सूत्र में नहीं है । अतः वह आचरण समस्त देवों के लिए नहीं, किन्तु सम्यग्दृष्टि देवों के लिए ही है । **श्री रायपसेणी सूत्र** में भी लिखा है–

'अन्नेसिं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ ।'

अर्थ – दूसरे भी बहुत से देव तथा देवियों के लिए पूजने योग्य हैं ।

इत्यादि पाठ से स्पष्ट है कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि देव ही पूजते हैं । यदि समस्त देवों के लिए पूजा अनिवार्य होती तो **सव्वेसिं वेमाणियाणं देवाणयं'** ऐसा पाठ होना चाहिए था ।

इस प्रकार देवताओं की जिस भक्ति की स्वयं तीर्थंकर परमात्मा भी प्रशंसा करते हैं, जो निरन्तर शुभभाव में मग्न रहते हैं, गुरु के दर्शन करने के लिए तथा प्रश्न पूछने के लिए विनय सहित आते हैं, एकचित्त से परमात्मा व गुरु की देशना का श्रवण करते हैं, मिथ्यादृष्टि देवों के उपद्रव को दूर करते हैं, धर्मभ्रष्ट जीवों को उपदेश देकर स्थिर करते हैं और विविध प्रकार से शासन की उन्नति करते हैं, उस समस्त कार्यों को धर्म गिनेंगे और मात्र मूर्तिपूजा करने से उन्हें अधर्मी गिनने का प्रयत्न करोगे तो यह कार्य नीचतापूर्ण ही कहा जाएगा ।

यदि पूर्वोक्त कार्यों में देवता भगवान की स्तुति, भजन, स्मरण, वैयावच्च आदि कर धर्म की महिमा बढ़ाते हैं तो फिर क्या सिद्धायतन में जाकर जिनप्रतिमा के सामने इससे विपरीत करते होंगे ? अर्थात् भगवान की निन्दा या अधम कृत्य करते होंगे कि जिस कारण मूर्तिपूजा को निरर्थक और अशुभ माना जाय ?

शास्त्रानुसार तो वे शुभभावयुक्त **'नमोत्थुणं'** का पाठ कर स्तुति करते हैं और नाटक, गीत-गान आदि कर परम उत्कृष्ट गति का बन्ध करते हैं ।

श्री आवश्यक सूत्र में **'देवाणं आसायणाए'** पाठ कहकर देवताओं की आशातना का **'मिच्छामि दुक्कडं'** देने में आया है । इस प्रकार **'मिच्छामि दुक्कडं'** देकर फिर इस प्रकार अवर्णवाद बोलना क्या न्यायसंगत है ?

श्री ठाणांग सूत्र के पाँचवें उद्देश में कहा है कि सम्यग्दृष्टि देवों की आशातना तथा निन्दा करने से जीव निकाचित कर्मों का बन्ध करता है और दुर्लभबोधि बनता है ।

''पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पकरेति तं जहा–''

(1) अरिहंताणमवन्नं वदमाणे ।

(2) अरिहंत पणत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे ।

(3) आयरिय उवज्झायाणं अवण्णं वदमाणे ।

(4) चाउवण्णसंघस्स अवण्णं वदमाणे ।

(5) विविक्त बंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

भावार्थ – पाँच स्थानों से जीव दुर्लभबोधि योग्य पापकर्म का बन्ध करता है और जैनधर्म की प्राप्ति को दुर्लभ बनाता है । वे पाँच स्थानक निम्नांकित हैं–

(1) अरिहन्त परमात्मा की निन्दा करने से (2) अरिहन्त परमात्मा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से (3) आचार्य उपाध्याय की निन्दा करने से (4) चतुर्विध संघ की निन्दा करने से तथा (5) पूर्वभव में परिपूर्ण तप व ब्रह्मचर्य का पालन कर जो देव बने हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों की निन्दा करने से जीव दुर्लभबोधि बनता है और उसे जैनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ होती है । उसी सूत्र में कहै है कि उनकी प्रशंसा करने से जीव सुलभबोधि अर्थात् जिनधर्म को सरलता / सहजता से प्राप्त करने वाला बनता है ।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देवों के बीच रात दिन का अन्तर है । उसे यथार्थ रूप से समझकर सम्यग्दृष्टि और उपकारी देवों को विपरीत व सामान्य कोटि में रखने के पाप से बचना चाहिए ।

प्रश्न 39 :– कहते हैं कि श्री महानिशीथ सूत्र के अमुक पन्ने नष्ट हो जाने से कई आचार्यों ने मिलकर इसे पुनः तैयार किया है । अतः इसे मानने में शंका क्यों न हो ?

उत्तर :– तो फिर अन्य सूत्रों को मानने में भी शंका रखनी पड़ेगी, क्योंकि वे भी अन्य आचार्यों के द्वारा ही बने हुए हैं–परन्तु यह तर्क जिनपूजा नहीं मानने की मनोवृत्ति में से ही पैदा हुआ है ।

श्री महानिशीथ सूत्र में स्थान-स्थान पर मूर्तिपूजा की पुष्टि होने से श्री नंदीश्वर द्वीप का इस सूत्र में निर्देश होने पर भी उसका अनादर करने के लिए ही इस बात को आगे की जाती है । परन्तु **श्री महानिशीथ** उपरान्त अन्य अनेक सूत्रों में भी श्री जिनप्रतिमा और उसकी पूजा के पाठ आते हैं ।

श्री देवद्धिगणि क्षमाश्रमण ने अनेक ग्रन्थ पुस्तकारूढ़ किए, उसमें से **श्री नंदीसूत्र** में सभी सूत्रों का निर्देश है । उसी निर्देश में **श्री महानिशीथ सूत्र** है ।

श्री तीर्थंकर गणधर भगवन्तों की परम्परा से चली आ रही प्रणालिका अनुसार, उन आचार्यों ने, उस सूत्र का पिछला भाग लुप्त हो जाने से, उन्हें जितना मिला उतना जिनाज्ञानुसार लिख दिया । उन्होंने आत्मार्थी, भवभीरुगीतार्थ होने से अपनी मनः कल्पना से एक अक्षर की भी नवीन रचना नहीं की है ।

वे लिखते हैं कि–श्री महानिशीथ सूत्र के अमुक पन्ने नष्ट हो जाने से उस सम्बन्ध में गुरुपरम्परा से जिनाज्ञानुसार जितना अधिकार मिला, उसे यहाँ स्थापित किया है । हमारी बुद्धि से इसमें कुछ भी नवीन लेख का समावेश नहीं है । इससे यह सिद्ध होता है कि जिस अधिकार के चले जाने से वे उसे प्राप्त न कर सके, उस अधिकार को सर्वथा छोड़ दिया । यदि वे पक्षपाती होते तो यद्वा-तद्वा झूठे गप्प हाँककर उसे पूरा क्यों नहीं करते ? परन्तु शुद्ध अन्तःकरण वाले महात्मा ऐसा उत्सूत्रभाषण कभी नहीं करते हैं । प्रायः समस्त सूत्र गणधरदेवों ने रचे थे, उतने समस्त श्लोकों की संख्या का प्रमाण आज

नहीं रहा है । आचार्यों को जितने-जितने श्लोक याद थे, उतने तो लिख दिए और शेष छोड़ दिए...तो फिर जैसी शंका श्री महानिशीथ में उत्पन्न होती है, वैसी शंका अन्य अंगसूत्रों में भी होनी चाहिये । यहाँ इतना समझना महत्त्वपूर्ण है कि समुद्र जितने ग्यारह अंग एक लोटे में समा जाय उतने रह गए हैं, परन्तु पानी तो उसी स्याद्वादमय द्वादशांगी रूप समुद्र का ही है, इसमें लेश भी फर्क नहीं है ।

श्री महानिशीथ सूत्र भी अन्य सूत्रों की भाँति अक्षरशः सत्य है । समुद्र समान गम्भीर बुद्धि के स्वामी, परोपकाररत महान् आचार्यों पर, जिनप्रतिमा के द्वेष से कलंक लगाना अत्यन्त अनुचित ही है । सूत्रविरुद्ध एक अक्षर की भी प्ररूपणा करने से आत्मा अनन्त संसारी होती है तो क्या उन आचार्यों को लेश भी भव का भय नहीं था ?

श्री महानिशीथ सूत्र का आलेखन हुए लगभग 1400 वर्ष बीत चुके हैं तो बीच 1000-1200 वर्ष तक कोई भी कुतर्क करने वाला क्यों पैदा नहीं हुआ ? इस बीच सैकड़ों आचार्य और साधु हो चुके हैं, जिन्होंने निःशंकतया उस सूत्र को मान्य किया है अतः उसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा करने वाला ही अप्रमाणिक सिद्ध होता है ।

प्रश्न 40 :– श्री जिनेश्वर भगवन्त को वन्दन-नमस्कार रूप भाव पूजा से लाभ होता है तो फिर पुष्प-फल आदि चढ़ाने से क्या फायदा ?

उत्तर :– तब तो फिर साधु लोकों की पूजा भी भाव से ही करनी चाहिए । गाड़ी, मोटर, ट्रेन में चढ़कर सैकड़ों मील दूर गुरु को वन्दन करने के लिए जाने से क्या फायदा ? घर बैठे मन से ही भावना कर लेनी चाहिये तथा आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध पाट आदि से द्रव्यपूजा क्यों करनी चाहिये ? उसमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है ।

साधु आहार करेंगे तो उन्हें स्थंडिल जाना पड़ेगा, पेशाब करना पड़ेगा, चालू वर्षा आदि में भी मल-मूत्र का व्युत्सर्जन करना पड़ेगा और ऐसा करने पर असंख्य जीवों की यावत् पंचेन्द्रिय तक की भी हिंसा हो जाएगी । कभी साधु को अजीर्ण हो गया तो वे दुःखी होंगे, उनके पेट में

द्वीन्द्रिय जीव पैदा हो जाएँगे और वे नष्ट हो जाएँगे...तो फिर यह सारा पाप आहार देने वाले को नहीं लगेगा ?

वस्त्र मलिन होता है, उसमें जूं आदि जीव पैदा हो सकते हैं, अतः साधु की यह सारी द्रव्यपूजा छोड़कर केवल भावपूजा ही क्यों न की जाय ?

यदि आप कहेंगे कि **'साधु को दान देने से तो एकान्ततः निर्जरा बताई गई हैं'** तो फिर **'जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा से कर्मबन्ध होता है',** यह किस सूत्र में कहा है ।

पूजा में उपयोगी पुष्प आदि जीव तो मात्र एकेन्द्रिय अव्यक्त चैतन्यवाले हैं, उसमें यदि दोष बताते हो तो साधु को गर्म व मधुर भोजन बहोराते समय तो उठने-बैठने , जाने-आने की क्रिया में अनेक त्रस जीवों की भी हिंसा सम्भव है, फिर भी उसमें निर्जरा बतलाते हो-यह कहाँ का न्याय है ?

एकेन्द्रिय की हिंसा से बेइन्द्रिय की हिंसा में अधिक पाप है...इस प्रकार अनुक्रम से पंचेन्द्रिय की हिंसा में अनन्तगुणा पाप है...तो फिर सोचें–साधु को द्रव्य दान देने से ज्यादा पाप या तीर्थंकर की पूजा से अधिक पाप ?

जिस प्रकार साधु को दान देने का आदेश अनेक सूत्रों में है उसी प्रकार जिनेश्वर की द्रव्यपूजा का आदेश भी अनेक सूत्रों में है । जिस बात का निषेध न हो उसका आदेश समझना चाहिए । जिस प्रकार गृहस्थ के लिए मुनिदान उचित है, उसी प्रकार द्रव्यपूजा भी उचित ही है । एक का आदर और दूसरे का अनादर करना-यह एकमात्र स्पष्ट पक्षपात ही है । क्योंकि सम्यक्त्व के आचरण में सुपात्रदान और जिनपूजा, इन दोनों कार्यों का समावेश होता है । यह भी सोचने योग्य है कि इच्छारहित को दान देना श्रेष्ठ है या इच्छावान् को ? सकर्मी को दान देना विशेष योग्य है या अकर्मी अर्थात् कर्मरहित को दान देना विशेष योग्य है ? सोचने पर पता चलेगा कि इच्छा वाले सकर्मी साधु की द्रव्यपूजा की अपेक्षा इच्छारहित और कर्ममल से सर्वथा मुक्त वीतरागदेव

की द्रव्यपूजा करना विशेष फलदायी है । इस कारण **श्री प्रश्नव्याकरण** में द्रव्यपूजा को **'दया'** शब्द से सम्बोधित किया है तथा **'आवश्यक सूत्र'** में पुष्पादि से पूजा करने से संसार-क्षय का फल बतलाया है ।

प्रश्न 41 :– श्री प्रश्नव्याकरण में दया के आठ नाम बतलाए हैं, उसमें पूजा को भी दया में गिना है तो फिर वहाँ भावपूजा क्यों नहीं समझना ?

उत्तर :– भावपूजा क्या वस्तु है ? उसे बराबर समझना चाहिए । जिस समय द्रव्यपूजा की जाती है, उस समय मन में जो शुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं, उसी का नाम भावपूजा है । द्रव्य के बिना किसी काल में भाव सम्भव नहीं है ।

जैसे–रसोई की हो तभी आहार रूप द्रव्य से साधु को दान देने की भावना कर सकते हैं और उसी को भाव कहते हैं । केवल भावना कोई पदार्थ नहीं है । जो बारह भावनाएँ हैं वो भी अमुक-अमुक द्रव्य पर आश्रित हैं ।

श्री जिनेश्वर के गुण की प्रशंसा करना स्तुति कहलाता है, पूजा नहीं और द्रव्यपूजा करने वाले की अनुमोदना करना वह भावपूजा है ।

अगर कोई स्त्री रसोई की सामग्री तैयार किए बिना ही साधु को दूर से आते देख, दरवाजा बन्द कर झरोखे में बैठकर मन में भावना करे कि **''साधु को आहार-पानी बहोराने से जीव की मुक्ति होती है ।''** तो उसकी यह भावना सच्ची या झूठी ? सार्थक या निरर्थक ? द्रव्य पदार्थ रहित होने से वह भावना व्यर्थ है । जहाँ चित्त, वित्त और पात्र-इन तीनों का योग हो वहीं उत्तम लाभ सम्भव है । वित्त और पात्र रहित चित्त की शास्त्रकारों ने प्रशंसा नहीं की है क्योंकि अधिकांशतः वह दम्भ रूप बन जाती है ।

श्री आवश्यक सूत्र में **'लोगस्स'** के पाठ में जो **'कित्तिय वंदिय महिया'** पाठ आता है, उसमें **'कित्तिय'** का अर्थ **'कीर्ति अथवा स्तुति की'** और **'वंदिय'** का अर्थ **'वंदना की'** ये दो शब्द भावपूजावाचक हैं, परन्तु **'महिया'** शब्द का अर्थ **'महिताः पुष्पादिभिः' 'अर्थात् पुष्पादिक से पूजा की'** अर्थात् यह वचन द्रव्यपूजा आश्रित है-फिर भी कई लोग

भावपूजा का झूठा अर्थ कर भ्रम में डालते हैं-वह असत्य है । किसी भी टीकाकार अथवा टबाकर ने केवल भावपूजा का अर्थ नहीं किया है, बल्कि भावपूजा और द्रव्यपूजा उभय अर्थ ही किया है ।

प्रश्न 42 :– मूर्ति को स्नान ही कराना है तो फिर कच्चे (सचित्त) जल के बजाय अचित्त गुलाबजल आदि से कराने में क्या नुकसान है ? फल-फूल से बदले कागज के फूल तथा इलायची, लोंग आदि अचित्त वस्तुओं का उपयोग करने में क्या तकलीफ है ?

उत्तर :– भद्रिक आत्माओं को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने के लिए यह एक कुटिल तर्क है । इस प्रकार का कुतर्क देने वाले इस तर्क का उपयोग अपने ही घर में क्यों नहीं करते हैं ? अपने गुरु गोचरी के लिए आएँ तब उन्हें कागज तथा कपड़े की अचित्त रोटी बहोराएँ...गर्म पानी के बदले अचित्त गुलाबजल आदि दें और स्वयं एकासना-उपवास आदि करे तब कागज-कपड़े की रोटियाँ खाए व अचित्त गुलाब जल आदि पीए क्योंकि पानी गर्म करने से व रसोई करने से तो षट्जीव निकाय की हिंसा होगी ।

ये सारे कुतर्क व्यर्थ हैं । पूजा की जो उचित पद्धति चली आ रही है उसे बदलने में भयंकर अनर्थ के सिवाय अन्य कुछ परिणाम नहीं है । कागज के फूल या गुलाब जल से पूजा या दान देने से आज्ञा-भंग का दोष तो लगता ही है परन्तु उसके सिवाय भी अनेक दोषों की परम्परा चालू हो जाती है । भक्ति के बदले केवल अभक्ति और आशातना ही होती है ।

जो मौज-शौक और सांसारिक कार्यप्रसंगों में फूलों के हार गजरा आदि बनाकर पास में रखते हैं, उसमें सैकड़ों फूलों की हिंसा हो जाने पर भी पाप का लेश भी ख्याल नहीं रहता है और वे पूजा के पुष्प, जो प्रभु के अंग पर निर्भय स्थान में चढ़ते हैं, उसमें भयंकर पाप मानते हैं, सचमुच उनकी बुद्धि उन्मार्गगामी ही बनी है । ऐसा शिक्षण देने वाले गुरुओं के दीक्षा व मृत्यु के प्रसंग में सैकड़ों मील दूर से वन्दन के लिए जाना-इत्यादि कृत्यों में एकेन्द्रिय सिवाय विकलेन्द्रिय-पंचेन्द्रिय जीवों

की भी प्रत्यक्ष हिंसा है, फिर भी उस हिंसा के सामने आँख-मिचौनी कर केवल जिनपूजा के महान् धर्म से भ्रष्ट करने के लिए ऐसा कुतर्क देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? प्रायः ऐसा कोई धर्म कार्य नहीं है, जिसमें हिंसा का लेश भी अंश न हो, इतने मात्र से धर्मप्रवृत्ति का त्याग करोगे, तब तो जगत् में एक भी कार्य उपादेय नहीं गिना जाएगा ।

प्रश्न 43 :– श्री जिनप्रतिमा की स्तुति करने की सर्वोत्तम विधि क्या है ?

उत्तर :– प्रतिमा में भगवान के नाम तथा गुणों का आरोपण कर उसके समक्ष भगवान की स्तुति करना, यह सर्वोत्तम विधि है । जैसे अपने पूर्वजों का चित्र देखकर सभी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे सुनकर चित्त प्रसन्न होता है तथा पूर्वजों को आदर मिलता है, ऐसा प्रतिभास होता है, वैसे ही भगवन्त की प्रतिमा का आदर करने से भगवान का ही आदर होता है, ऐसा लगना चाहिए ।

भगवान को आदर देने की इच्छा जगी, यह भी परम शुभ अध्यवसाय का लक्षण है और उससे जीव महान् पुण्य उपार्जित करता है । गृहस्थाश्रम भोगने वाले श्रावकों के लिए भगवान का गुणगान करने हेतु अनुकूल स्थान श्री जिनमन्दिर को छोड़कर अन्य कोई नहीं है ।

भगवान के गुणों का स्मरण तथा ध्यान करने के लिए श्री जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा की स्थापना की गई है । उसके दर्शन के साथ ही भगवान के गुण याद आते हैं ।

श्री जिनमूर्ति की मुखाकृति देखकर विचार पैदा होते हैं, **'अहो ! यह मुख कितना सुन्दर है कि जिसके द्वारा किसी के लिए भी अपशब्द नहीं बोला गया तथा जिससे कभी हिंसक, कठोर अथवा कड़वे वचन नहीं निकले । उसमें रही जीभ से रसनेन्द्रिय के विषयों का कभी भी रागद्वेष से सेवन नहीं किया गया, परन्तु उस मुख द्वारा धर्मोपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को इस संसार-सागर से पार उतारा गया है, इसलिए वह मुख हजारों बार धन्यवाद का पात्र है ।'**

भगवान की नासिका द्वारा सुगन्ध या दुर्गन्ध रूप घ्राणेन्द्रिय के विषयों का राग अथवा द्वेषपूर्वक उपभोग नहीं किया गया ।

'इन चक्षुओं द्वारा पाँच प्रकार के रूपादि विषयों का पल भर के लिये भी राग अथवा द्वेषपूर्वक उपभोग नहीं किया गया । किसी भी स्त्री की ओर मोहदृष्टि से अथवा किसी शत्रु की ओर द्वेषदृष्टि से नहीं देखा गया, केवल वस्तुस्वभाव तथा कर्म की विचित्रता का विचार कर भगवान के नेत्र सदा समभाव में रहते हैं । ऐसे भगवान के नेत्रों को कोटिशः धन्य है ।'

'इन दोनों कानों के द्वारा विचित्र प्रकार की राग-रागिनियों का रागपूर्वक श्रवण नहीं किया गया परन्तु इन्होंने मधुर या कटु, अच्छे या बुरे जैसे भी शब्द कान में पड़े, उनको रागद्वेष रहित होकर सुना है ।'

'इस शरीर को किसी जीव की हिंसा अथवा अदत्त-ग्रहण आदि का दोष नहीं लगा । इसका उपयोग केवल जीवरक्षा निमित्त तथा सभी को सुख मिले, उसी ढंग से हुआ है । इस देह ने गाँव-गाँव विहार कर अनेक जीवों के सांसारिक बन्धनों को तोड़ा है तथा सभी कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान या केवलदर्शन को प्रकट किया है ।'

'ऐसे प्रभु अनुपम उपकारी तथा सम्पूर्ण जगत् के अकरण बन्धु होने से उनको असंख्य बार धन्यवाद है । इनकी यथाशक्ति भक्ति करना, यह मेरा परम कर्त्तव्य है ।'

प्रभु की शान्त मुद्रा देखकर ऐसी शुभ भावना अन्तःकरण में उत्पन्न होती है । उत्तम जीव, निःस्वार्थ प्रेमी, ऐसे परमात्मा की जल, चन्दन, केसर, बरास, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य आदि से पूजा करते हैं, बहुमूल्य आभूषण चढ़ाते हैं, इनकी भक्ति में यथाशक्ति धन खर्च करते हैं और सोचते है कि **'यदि मैं प्रभु की भक्ति करूंगा तो मैं स्वयं तिरने के साथ अन्यों का तिराने में भी निमित्त बनूंगा क्योंकि मेरी भक्ति देखकर दूसरे लोग उसका अनुकरण करेंगे तथा अनेक भव्य पुरुष भगवान की सेवा करने में तत्पर होंगें और मैं उसमें निमित्त बनूंगा ।'**

द्रव्यपूजा-समाप्ति के पश्चात् भावपूजा करते समय भक्त भगवान के गुणों का स्मरण कर अपनी आत्मा के साथ उनकी तुलना करता है कि–

`अहो ! प्रभु वैरागी हैं और मैं रागी हूँ ।

प्रभु द्वेष रहित हैं और मैं द्वेष पूर्ण हूँ ।

प्रभु क्रोध रहित हैं और मैं क्रोधी हूँ ।

प्रभु निष्काम हैं और मैं कामी हूँ ।

प्रभु निर्विषयी हैं और मैं विषयी हूँ ।

प्रभु मान रहित हैं और मैं मानी हूँ ।

प्रभु माया से परे हैं और मैं मायावी हूँ ।

प्रभु निर्लोभी हैं और मैं लोभी हूँ ।

प्रभु आत्मानन्दी हैं और मैं पुद्गलानन्दी हूँ ।

प्रभु अतीन्द्रिय सुख के भोगी हैं और मैं विषय सुख का भोगी हूँ ।

प्रभु स्वभावी हैं और मैं विभावी हूँ ।

प्रभु अजर हैं और मैं सजर हूँ ।

प्रभु अक्षय हैं और मैं क्षय को प्राप्त होते रहने वाला हूँ ।

प्रभु अशरीरी हैं और मैं सशरीरी हूँ ।

प्रभु अनिंदक हैं और मैं निंदक हूँ ।

प्रभु अचल हैं और मैं चंचल हूँ ।

प्रभु अमर है और मैं मरणशील हूँ ।

प्रभु निद्रा रहित हैं और मैं निद्रा सहित हूँ ।

प्रभु निर्मोह हैं और मैं मोह वाला हूँ ।

प्रभु हास्य रहित हैं और मैं हास्य सहित हूँ ।

प्रभु रति रहित हैं और मैं रति सहित हूँ ।

प्रभु शोक रहित हैं और मैं शोक सहित हूँ ।

प्रभु भय रहित हैं और मैं अरति भयभीत हूँ ।

प्रभु अरति रहित हैं और मैं अरति सहित हूँ ।

प्रभु निर्वेदी हैं और मैं सवेदी हूँ ।

प्रभु क्लेशरहित हैं और मैं क्लेशसहित हूँ ।

प्रभु अहिंसक हैं और मैं हिंसक हूँ ।

प्रभु वचन-रहित हैं और मैं मृषावादी हूँ ।

प्रभु प्रमाद रहित हैं और मैं प्रमादी हूँ ।

प्रभु आशा रहित हैं और मैं आशावान हूँ ।

प्रभु सभी जीवों को सुखदायी हैं और मैं अनेक जीवों को दुःखदायी हूँ ।

प्रभु वंचना रहित हैं और मैं वंचक हूँ ।

प्रभु आस्त्रव रहित हैं और मैं आस्त्रव सहित हूँ ।

प्रभु निष्पाप हैं और मैं पापी हूँ ।

प्रभु कर्मरहित हैं और मैं कर्म सहित हूँ ।

प्रभु सभी के विश्वासपात्र हैं और मैं अविश्वासपात्र हूँ ।

प्रभु परमात्मपद को पहुँचे हुए हैं और मैं बहिरात्मभाव में घूम रहा हूँ ! आदि ।

इस प्रकार प्रभु तो अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं और मैं सब प्रकार के दुर्गुणों से परिपूर्ण हूँ । इसी कारण मैं इस संसाररूपी वन में अनंतकाल से भटक रहा हूँ । आज मेरे भाग्योदय से मुझे भगवान की मूर्ति के दर्शन हुए तथा उसके आलम्बन से मुझे प्रभु के गुणों का तथा मेरे अवगुणों का स्मरण हुआ । प्रभु के गुण तथा मेरे अवगुण समझ में आये । अब मैं अपने दुर्गुणों को छोड़ने का प्रयत्न करूँ तथा जो मार्ग भगवान ने बतलाया है उसका अनुसरण करूं, सुख एवं कल्याण के लिए जैसा व्यवहार करने का उन्होंने फरमाया है, वैसा ही व्यवहार मैं करूं ।

इस प्रकार की शुभ भावना से स्तुति करता हुआ जीव अपने अशुभ तथा क्लिष्ट कर्मों का नाश करता है इससे समकित की शुद्धि होती है और परम्परागत मोक्ष के अनन्त सुखों की प्राप्ति होती है ।

श्री जिनप्रतिमा की पूजा तथा स्तुति से इस प्रकार के साक्षात्

तथा परम्परागत अनेक लाभ होने से प्रत्येक भव्य आत्मा को जिनप्रतिमा का प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त आदर करना चाहिए ।

प्रश्न 44 :– पूजा और प्रतिष्ठा महामंगलकारी हैं, तो फिर मूर्ति की प्रतिष्ठा में शुभाशुभ मुहूर्त देखने का क्या प्रयोजन ?

उत्तर :– किसी योग्य शिष्य को जब दीक्षा देनी होती है तब शुभ मुहूर्त क्यों देखा जाता है ? क्या दीक्षा अमंगलकारी है कि जिसके लिए शुभ मुहूर्त की आवश्यकता होती है ? शुभ नक्षत्र तथा शुभ ग्रह, शुभ सूचक हैं व अशुभ ग्रह तथा अशुभ नक्षत्र, अशुभ सूचक हैं, अतः प्रत्येक शुभ कार्य में शुभ मुहूर्त देखने की आवश्यकता है ।

भगवान स्वयं तो वीतराग हैं और उनकी मूर्ति भी सभी जीवों का भला करने वाली है फिर भी कोई दुष्ट आत्मा उनकी आशातना, निंदा अथवा आज्ञा का उल्लंघन करे और परिणामस्वरूप उसका अहित हो तो उसमें भगवान या मूर्ति का दोष नहीं है ।

शास्त्रकारों के आदेशानुसार सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप, नियम, ध्यान आदि प्रत्येक क्रिया विधिवत् करने से लाभ करती है तथा प्रतिकूल रूप से करने पर हानि करती है । यही बात मूर्ति की प्रतिष्ठा के विषय में भी समझनी चाहिए ।

शास्त्राभ्यास भी असमय और अविधि से करने की मनाही है । उसी भाँति मूर्तिपूजा आदि समस्त लाभकारी क्रियाएँ जिस मात्रा में भावपूर्वक तथा विधि-सम्मानपूर्वक करने में आती हैं, उतनी ही मात्रा में फलदायी होती हैं । मुनिराज सदा सबके हितकारी होते हुए भी जिस भाव से उनकी ओर देखा जाता है, उसी प्रकार का फल जीव प्राप्त करते हैं । जैसे किसी महासती साध्वी को रूपवान देखकर किसी विषयी पुरुष को कामविकार उत्पन्न हो जाय अथवा सुन्दर ब्रह्मचारी को देखकर कोई दुष्ट स्त्री उस पर मोहित हो जाय तो क्या इससे वह साधु या साध्वी अवन्दनीय हो जायेगी ? उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान श्री मल्लिनाथजी की प्रतिमा देखकर छह राजा कामातुर हो गये । तो क्या इससे भगवान श्री मल्लिनाथजी की महिमा समाप्त हो गई ? कामीजनों के मोहनीय

कर्म के उदय से उनकी खराब गति होती है, उसका कारण उनके स्वयं के क्लिष्ट कर्म हैं, न कि वे महापुरुष ।

प्रश्न 45 :– 'अनार्य लोगों को श्री जिनमूर्ति से कहाँ लाभ होता है ?'

उत्तर :– ऐसा प्रश्न करने वाले को समझना चाहिए कि जिसने सच्चे देव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना और उनकी प्रतिमा को अपने इष्टदेव के रूप में स्वीकार नहीं किया, ऐसी आत्माओं को श्री जिनमूर्ति से लाभ न हो तो उसका कारण उनकी अयोग्यता है । जो परमात्मा के स्वरूप को वास्तविक रूप से जान-पहचान कर परमात्मा की प्रतिमा को वन्दन-पूजन करते हैं, उनको आर्द्रकुमार की भाँति अवश्य शुभध्यान उत्पन्न होता है तथा अचिन्त्य लाभ मिलता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं ।

प्रश्न 46 :– चार निक्षेपों का शास्त्रीय स्वरूप क्या है ?

उत्तर :– श्री अनुयोगद्वार सूत्र में शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं–

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ।।1।।

जहाँ जिस वस्तु में जितने निक्षेप ज्ञात हों वहाँ उस वस्तु में उतने निक्षेप करना और जहाँ जिस वस्तु में अधिक निक्षेप मालूम नहीं हो सकें वहाँ इस वस्तु में कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य करने चाहिए । तात्पर्य यह है कि जगत् के सभी छह द्रव्यों, नौ तत्त्वों, पाँच परमेष्ठियों तथा नौ पदों, इन सभी में कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य किये जा सकते हैं ।

किसी भी वस्तु का स्वरूप जानने के लिए सामान्य रूप से कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य किये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. नाम निक्षेप – वस्तु के आकार एवं गुण से रहित नाम को नाम निक्षेप कहते हैं ।

2. स्थापना निक्षेप – वस्तु के नाम तथा आकार सहित परन्तु गुण रहित, उसे स्थापना निक्षेप कहते हैं ।

3. द्रव्य निक्षेप – वस्तु के नाम और आकार तथा अतीत और अनागत गुण सहित परन्तु वर्तमान गुण रहित को द्रव्य निक्षेप कहते हैं ।

4. भाव निक्षेप – वस्तु के नाम, आकार और वर्तमान गुण सहित को भाव निक्षेप कहते हैं ।

उदाहरण स्वरूप – श्री जिनेश्वर देवों के **'महावीर'** आदि नाम, वे **नाम जिन;** उन तारकों की प्रतिमा, **वे स्थापनाजिन,** जिन-नाम-कर्म बाँधा हो ऐसे श्री जिनेश्वरदेव के जीव, वे द्रव्य जिन और समवसरण में धर्मोपदेश देने के लिए विराजमान साक्षात् श्री जिनेश्वरदेव, वे **भावजिन कहलाते हैं ।** इस प्रकार श्री जिनेश्वरदेव के चार निक्षेप समझने चाहिए ।

इन चार निक्षेपों के अभाव में किसी भी वस्तु का वस्तुपना सिद्ध नहीं हो सकता । जगत् में शश-श्रृंग नहीं हैं तो उनका वाचक शुद्ध शब्द भी नहीं है । जिसका नाम नहीं होता, उसकी आकृति भी किसी प्रकार बन नहीं सकती । जिसका नाम अथवा आकार दोनों नहीं होते उसकी पूर्वापर अवस्था और वर्तमान अवस्था रूप पर्याय का आधारभूत द्रव्य भी नहीं होता; जहाँ नाम, स्थापना तथा द्रव्य इन तीनों का अभाव होता है, वहाँ वस्तु का भाव या गुण तो हो ही कैसे सकता है ?

इसलिए नामादि निक्षेप विहीन किसी पदार्थ का इस जगत् में अस्तित्व होता ही नहीं है । अतः द्रव्यादिक तीनों निक्षेपों को माने बिना केवल भावनिक्षेप को मानने की बात शशश्रृंगवत् कल्पित है । जिसका नाम, उसी की स्थापना, जिसकी स्थापना उसी का द्रव्य, उसी का भाव । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में चारों निक्षेप एक साथ रहे हुए हैं ।

किसी भी वस्तु को पहचानने के लिए सर्वप्रथम उसका नाम जानने की आवश्यकता होती है, यह **नामनिक्षेप** है । नाम जान लेने के पश्चात् उसी वस्तु की विशेष पहचान के लिए उसकी आकृति, आकार अथवा स्थापना जानने की जरूरत होती है, वह **स्थापनानिक्षेप** है । उसी वस्तु के सम्बन्ध में उससे भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो उसके गुण-दोष बताने वाली उसकी आगे-पीछे की अवस्था का निरीक्षण

करना पडता है, उसको **द्रव्यनिक्षेप** कहा जाता है तथा इन तीनों निक्षेपों के स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली साक्षात् जो वस्तु है, उसे **भावनिक्षेप** माना जाता है । भाव निक्षेप का यथार्थ ज्ञान करने के लिए प्रथम के तीनों निक्षेपों के ज्ञान की आवश्यकता होती है ।

जंगल में अमूल्य वनस्पतियाँ होते हुए भी जिनके नाम तथा आकारादि का ज्ञान नहीं होता है, उनके गुणों का भी ज्ञान नहीं हो सकता है । नामादि तीनों निक्षेपों के ज्ञान से विहीन आत्मा के लिए भावनिक्षेप को विपरीत रूप से ग्रहण करने की अधिक सम्भावना है । जिस बालक को सोमल अथवा सर्प आदि विषमय वस्तु के नाम, आकार आदि का ज्ञान नहीं होता, ऐसा अज्ञानी बालक साक्षात् सोमल या सर्प वगैरह से बच नहीं सकता । इससे सिद्ध होता है कि भाव का साक्षात् ज्ञान कराने वाला अकेला भाव नहीं पर उसका नाम, आकार तथा पूर्वापर अवस्था, ये सब मिलकर ही किसी भी पदार्थ के भाव का निश्चित बोध कराते हैं ।

केवल भावनिक्षेप को मानकर जो नाम आदि निक्षेपों को मानने से इन्कार करते हैं, उन्हें कोई दुष्ट व्यक्ति उनके पूज्य या प्रिय व्यक्ति का नाम लेकर निंदा करे, गाली दे या तिरस्कार करे तो क्या उनको क्रोध नहीं आता ? अथवा उसे पूज्य या प्रिय व्यक्ति के नाम से उनकी तारीफ करे तो क्या खुशी नहीं होती ? अवश्य होती है । अतः नामनिक्षेप व्यर्थ है, ऐसा कहने वाला मिथ्याभाषी है ।

इसी प्रकार अपने पूज्य आदि के चित्र को किसी दुराचारी स्त्री के साथ रखकर उस पर से कुचेष्टा वाला चित्र लेकर कोई नालायक व्यक्ति स्थान-स्थान पर उसकी अपकीर्ति करे तो इससे मूर्ति को नहीं मानने वालों को भी क्या क्रोध नहीं आएगा ? अवश्य आएगा । अर्थात् स्थापनानिक्षेप व्यर्थ है, ऐसा कहना अनुचित है ।

नाम और स्थापना की भाँति ही अपने पूज्य आदि की पूर्वापर अवस्था की बुराई या भलाई सुनने से क्रोध या आनन्द पैदा होता है और पूज्य के लिए साक्षात् अपकीर्ति और अपशब्द सुनने पर भी इनके

चाहने वालों को अवश्य दुःख होता है तथा प्रशंसा सुनने पर सुख की प्राप्ति होती है । इससे स्पष्ट है कि चारों निक्षेपों में भिन्न-भिन्न प्रभाव पैदा करने की शक्ति प्रकट रूप से रही हुई है ।

प्रश्न 47 :– नाम निक्षेप किसे कहते है ?

उत्तर :– किसी भी वस्तु के सांकेतिक नाम के उच्चारण से उस वस्तु का बोध कराना प्रथम नाम निक्षेप का विषय है । श्री ऋषभादिक चौबीस तीर्थंकरों के नाम, उनके माता-पिता ने जन्म-समय पर रखे होते हैं । इसमें कारण, उनके गुण नहीं किन्तु केवल पहिचानने का संकेत है । नाम रखने में यदि गुण ही कारण होता तो सभी तीर्थंकर समान गुणवाले होने के कारण सभी का एक ही नाम रखना चाहिए था ।

समान गुण वालों के भिन्न नाम तो तभी हो सकते हैं जब नाम रखते समय गुण की अपेक्षा आकार आदि की भिन्नता पर भी लक्ष्य दिया जाय । चौबीस तीर्थंकरों के गुण समान होते हुए भी प्रत्येक के आकार, पूर्वापर अवस्था आदि में भिन्नता थी । उसी प्रकार एक ही नाम की जहाँ अनेक वस्तुएँ होती हैं वहाँ भी नाम द्वारा जिस वस्तु विशेष का बोध होता है उसका कारण भी उस वस्तु में रहने वाली गुण, आकार आदि की भिन्नता है । जैसे **'हरि'** दो अक्षर का नाम है पर उससे अनेक वस्तुओं का संकेत होता है । **'हरि'** शब्द कहते ही `कृष्ण, सूर्य, बन्दर, सिंह और घोड़ा' आदि अनेक अर्थों का बोध होना शक्य होने पर भी ऐसा नहीं होकर केवल कृष्ण का ही बोध होता है । इसका कारण उस शब्द को बोलने वाले का अभिप्राय कृष्ण ही कहने का है । इसी प्रकार सूर्य के ध्येय से **'हरि'** शब्द बोलने से केवल सूर्य का ज्ञान होता है पर कृष्णादि अन्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता ।

इससे सिद्ध होता है कि अनेक संकेत वाले एक नाम में भिन्न-भिन्न संकेतों को बोध कराने की जो शक्ति है, उसका कारण अकेला नाम निक्षेप नहीं पर उन नामों के साथ अन्य सभी निक्षेपों का होने वाला बोध है ।

दूसरा उदाहरण **'कोट'** शब्द का लेते हैं । **'कोट'** शब्द से

पहिनने का वस्त्र तथा नगर की परिक्रमा करती चारदीवारी, आदि अर्थों का बोध होता है। परन्तु जब वस्त्र के उद्देश्य से **'कोट'** शब्द का प्रयोग होता है तब अन्य अर्थों का बोध नहीं होता। इसी प्रकार गढ़ के हेतु से **'कोट'** शब्द का प्रयोग करते समय वस्त्र आदि का ज्ञान नहीं होता, इसका कारण उन वस्तुओं के चारों निक्षेप भिन्न होने के अतिरिक्त क्या है ?

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि बाकी के तीन निक्षेप उन्हीं के वन्दनीय एवं पूजनीय हैं, जिनके भावनिक्षेप वन्दनीय और पूजनीय हैं और इसी कारण **श्री भगवती, श्री उववाई** और **श्री रायपसेणी** आदि सूत्रों में श्री तीर्थंकरदेव तथा अन्य ज्ञानी महर्षियों के नामनिक्षेप भी वन्दनीय हैं, ऐसा कहा गया है।

उन-उन स्थानों पर कहा गया है–``श्री अरिहन्त भगवन्तों का नाम-गोत्र भी सुनने से वास्तव में महाफल होता है।''

नामनिक्षेप का महत्त्व बताने के लिए **श्री ठाणांग सूत्र** के चौथे और दसवें स्थान में भी कहा गया है कि–

``चउव्विहे सच्चे पन्नत्ते, तं जहा-नाम सच्चे, ठवणसच्चे, दव्वसच्चे भावसच्चे। तथा दसविहे सच्चे पनत्ते ते जहा–''

जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहारभावजोगे, दसमे उवम्मसच्चे अ ।।1।।

चार प्रकार के सत्य बताये गये हैं:– नाम सत्य, स्थापना सत्य, द्रव्य सत्य और भाव सत्य तथा श्री तीर्थंकरदेवों ने दस प्रकार के सत्य भी बतलाये हैं। जनपदसत्य, सम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

इस प्रकार दो चार अक्षरों के नाम की सत्यता और उससे भी महान् फल की सिद्धि होती है, ऐसा शास्त्रकार महापुरुषों ने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है, तो फिर श्री वीतरागदेव के स्वरूप का भान कराने वाली शान्त आकार वाली भव्य मूर्ति के दर्शन-पूजन आदि से अनेक गुण लाभ हों तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

1. जनपद सत्य – पानी को किसी देश में पय, किसी में पीच्य, किसी में उदक और किसी में जल कहते हैं, यह जनपद सत्य है ।

2. सम्मत सत्य – कुमुद, कुवलय आदि पुष्प भी कमल से उत्पन्न होते है फिर भी पंकज शब्द अरविंद, कुसुम को ही सम्मत है, यह सम्मत सत्य है ।

3. स्थापना सत्य – लेप आदि के विषय में अरिहन्त प्रतिमा, एक आदि अंक विन्यास और कार्षापण आदि के विषय में मुद्राविन्यास आदि, ये सब स्थापना सत्य हैं ।

4. नाम सत्य – कुल की वृद्धि न करता हो तो भी **'कुलवर्धन'** आदि नाम, यह नाम सत्य है ।

5. रूप सत्य – व्रत का आचरण न करता हो और केवल लिंग मात्र से व्रती कहलाये, यह रूप सत्य है ।

6. प्रतीत्य सत्य – अनामिका अंगुली कनिष्ठा के सम्बन्ध से दीर्घ और मध्यमा के सम्बन्ध से लघु कहलाती है, यह प्रतीत्य सत्य है ।

7. व्यवहार सत्य – पर्वत पर घास आदि जलने पर भी यह कहना कि **'पर्वत जलता है',** पानी जमने पर यह कहना कि **'घड़ा जमता है'** तथा उदर होते हुए भी यह कहना कि अनुदरा कन्या,– ये सब व्यवहार सत्य हैं ।

8. भाव सत्य – बगुला सफेद और भ्रमर श्याम कहा जाता है । वास्तव में तो उन दोनों में पाँचों वर्ण हैं, फिर भी वर्ण की उत्कटता के कारण बगुले को सफेद व भ्रमर को श्याम कहना, यह भाव सत्य है ।

9. योग सत्य – दंड के योग से दंडी, छत्र के योग से छत्री आदि कथन, योग सत्य है ।

10. उपमा सत्य – समुद्र के समान तालाब आदि का कथन, उपमा सत्य है ।

प्रश्न 48 :– स्थापना निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर :– जिस वस्तु का नाम मात्र सुनकर उसका बोध और भक्ति होना सम्भव है, तो वस्तु की आकृति अथवा जिसमें नाम के

उपरान्त आकार है उससे अधिक बोध और भक्ति कैसे नहीं होगी ? और उसे करने के लिए कौन इच्छा नहीं करेगा ? नाम निक्षेप जिस प्रकार शास्त्र सिद्ध है, उसी प्रकार स्थापना निक्षेप भी अनेक शास्त्रों से सिद्ध है ।

श्री अनुयोगद्वार सूत्र में दस प्रकार से स्थापना का स्थापन करने को कहा गया है । 1. काष्ठ में, 2. चित्र में, 3. पुस्तक में, 4. लेपकर्म में, 5. गुंथन में, 6. वेष्टन क्रिया में, 7. धातु का रस डालने में, 8. अनेक मणियों के संघात में, 9. शुभाकार पाषाण में और 10 छोटे शंख में ।

इन दस प्रकारों में से किसी भी प्रकार में क्रिया तथा क्रियावान् पुरुष का अभेद मानकर, हाथ जोड़े हुए तथा ध्यान लगाये हुए आवश्यक क्रिया सहित साधु की आकृति अथवा आकृति रहित स्थापना करना अथवा आवश्यक सूत्र का पाठ लिखना, यह स्थापना आवश्यक कहलाता है ।

हाथ जोड़कर तथा ध्यान लगाकर क्रिया करने वाले का रूप यदि सद्भाव स्थापना है तो पद्मासनयुक्त, ध्यानारूढ़, मौनाकृति, श्री जिनमुद्रासूचक प्रतिमा स्थापनाजिन कैसे नहीं कहलाएगी ? यदि प्रतिमा स्थापनाजिन नहीं, तो पूर्वोक्तस्वरूप आवश्यक भी स्थापना आवश्यक नहीं कहलाएगा और ऐसा करने से **श्री अनुयोगद्वार सूत्र** के पाठ का अपलाप हो जाएगा । सूत्र के पाठ का लोप अथवा अपलाप जिसको नहीं करना हो उसे तो श्री जिनस्वरूप प्रतिमा को **'स्थापना-जिन'** के रूप में निःसन्देह स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

यदि स्थापना को निरर्थक माना जाय तो जैनधर्म के सभी सूत्र-सिद्धान्त भी व्यर्थ बन जाते है क्योंकि वे भी श्री वीतराग देव के अरूपी ज्ञान से अंश रूपी अक्षरों की स्थापना ही है और यदि सूत्र-सिद्धान्तों का लोप होता है तो जैनधर्म का ही लोप हो जाता है । जिनको धर्म का लोपक नहीं बनना है, वे स्थापना की उपेक्षा किसी प्रकार नहीं कर सकते ।

जिस प्रकार नाम के साथ चार निक्षेप जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार स्थापना के साथ भी चार निक्षेप जुड़े हुए हैं । यदि ऐसा न हो तो कुत्ते का चित्र देखने पर बिल्ली का ज्ञान हो जाना चाहिए और बिल्ली का

चित्र देखने पर कुत्ते का ज्ञान होना चाहिए । परन्तु कुत्ते का चित्र देखकर कुत्ते का ही ज्ञान होता है और किसी का नहीं, क्योंकि चित्र देखते ही कुत्ते के चार निक्षेप का ज्ञान होता है । जिसका चित्र देखने में आता है उसके चार निक्षेप मन में स्पष्ट हो जाते हैं ।

यदि ऐसा नहीं होता तो भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा देखने पर श्री पार्श्वनाथ प्रभु का स्मरण हो जाना चाहिए क्योंकि दोनों के भाव निक्षेप समान हैं । भाव निक्षेप समान होते हुए भी एक तीर्थंकर की मूर्ति देखने से अन्य तीर्थंकरों का बोध नहीं होता, इसका कारण मूर्ति के साथ जुड़े हुए अन्य निक्षेप हैं । निक्षेपों का विषय यदि व्यर्थ है तो एक **'कुमुदचन्द्र'** का नाम लेने या उसकी मूर्ति देखते समय जितने **'कुमुदचन्द्र'** हों, उन सबका ज्ञान उस समय होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं होता, केवल एक का ही ज्ञान होता है । अर्थात् एक नाम या एक मूर्ति वाले भिन्न-भिन्न पुरुष के चार-चार निक्षेप भी भिन्न-भिन्न हैं, यह बात सिद्ध होती है ।

जैसे किसी के गुरु का नाम श्री **'रामचन्द्र'** है और उस नाम के संसार में लाखों पुरुष विद्यमान हैं । गुरु के नाम वाले **'रामचन्द्र'** ऐसे अक्षरों में गुरु के आकार का तो कोई भी चिह्न नहीं है तो फिर नाम मात्र से उस नाम के हजारों, लाखों पुरुषों में से किसका स्मरण और किसको नमस्कार सिद्ध होगा ? यदि कहोगे कि **'रामचन्द्र'** शब्द से मात्र गुरु का ही स्मरण और गुरु को ही नमस्कार हुआ पर अन्य को नहीं तो कहना ही पड़ेगा कि–**'रामचन्द्र'** नाम के दूसरे सभी पुरुषों को नमस्कार नहीं करने के लिए और केवल श्री **'रामचन्द्र'** नाम के अपने गुरु को ही नमस्कार करने के लिए गुरु की आकृति आदि को मन में स्थापित की हुई ही होगी । इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्थापनादि निक्षेप, स्वाभाविक रूप से गले में पड़ ही जाते हैं ।

यहाँ यदि ऐसी शंका हो कि स्थापना निर्जीव होने से कार्यसाधक और पूजनीय कैसे बन सकती है ? तो इसका समाधान है कि निर्जीव वस्तुमात्र यदि निरर्थक और अपूजनीय हो तो **श्री समवायांग, श्री**

दशाश्रुतस्कंध तथा **श्री वशवैकालिक** आदि सूत्रों में फरमाया है कि गुरु के पाट, पीठ, संथारा आदि वस्तुओं को पैर की ठोकर लग जाय तो भी शिष्य को गुरु की आशातना का दोष लगता है । गुरु के पाट वगैरह तो निर्जीव ही हैं ।

पूर्वोक्त वस्तुएँ निर्जीव होते हुए भी गुरुओं की स्थापना होने के नाते उनका अविनय करने से शिष्य को आशातना लगती है और विनय करने से भक्ति एवं शुभ फल की प्राप्ति होती है । इसी भाँति श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति श्री जिनेश्वरदेव की ही स्थापना होने से उसकी आशातना या उसका विनय करने से अशुभ या शुभ फल की प्राप्ति होती है । श्री जैनशासन में विनय को ही मुख्य गुण माना गया है । उस गुण के पालन के लिए श्री जिनेश्वरदेव की स्थापना स्वरूप मूर्ति की भक्ति आदि करना भी जैनधर्म में मुख्य वस्तु गिनी जाती है ।

यहाँ तक कि साधुओं के वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण और मुँहपत्ति आदि उपकरण निर्जीव होते हुए भी उनके द्वारा चारित्रगुण की साधना हो सकती है । शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि लकड़ी के घोड़े से खेलते हुए बालक को दूर हटाने के लिए कोई साधु उसे ऐसा कहे कि हे बालक ! तेरी लकड़ी हटा, तो मुनि को असत्य बोलने का दोष लगता है । इस दोष से बचने के लिए साधु को ऐसा ही कहना चाहिए । कि–हे बालक ! तुम्हारा घोड़ा हटाओ, लकड़ी में कोई साक्षात् घोड़ापन तो है ही नहीं, केवल उसकी असद्भूत स्थापना है, तब भी उसे मानना जरूरी है, तो श्री जिनप्रतिमा को, जो श्री जिनेश्वरदेवों की सद्भूत स्थापना है, उसे माने बिना कैसे चल सकता है ?

शक्कर के खिलौने जैसे हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, गाय, मनुष्य आदि खाने से पंचेन्द्रिय की हत्या करने का पाप लगता है, ऐसा दया धर्म को समझने वाले सभी मानते हैं । वे सभी वस्तुएँ निर्जीव हैं फिर भी उनमें जीव की स्थापना होने से ही उनको खाने का निषेध किया गया है । इसके सिवाय दूसरा कोई भी कारण ज्ञात नहीं होता ।

दीवार पर चित्रित स्त्री की आकृति विकार का हेतु होने से साधु

को उसे नहीं देखना चाहिए । ऐसा जो निषेध किया गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि निर्जीव वस्तुएँ असर करने वाली होती हैं ।

स्थापना निर्जीव होने पर भी उसके प्रभाव को जानने के लिए निम्नलिखित द्रष्टांत विश्वविख्यात है :–

1. अपने पति के चित्र को देखकर पतिव्रता स्त्री खूब प्रसन्न होती है; परन्तु उसमें कभी द्वेष की भावना दिखाई नहीं देती है ।

2. प्रजावत्सल राजाओं की प्रतिकृतियाँ देखकर वफादार प्रजा नाराज न होकर प्रसन्न ही होती है और इसी कारण ऐसे राजा-महाराजाओं की तथा महान् पराक्रमी पुरुषों की प्रतिमाएँ उनकी यादगार में बने हुए स्थानों पर नजर आती हैं ।

3. परदेशवासी अपने स्वजन आदि के हस्ताक्षर वाले पत्र को देखकर भी अपने हितैषियों के स्नेहमिलन जैसा सन्तोष अनुभव करते हैं ।

4. अपने ज्येष्ठ तथा इष्टमित्रों की तस्वीर देखकर उनके उपकार और गुणों का स्मरण हो आता है और हृदय प्रेम से पुलकित हो जाता है ।

5. कामशास्त्र में स्त्री-पुरुषों के विषय-सेवन के चौरासी आसन आदि देखने से कामीजनों को तुरन्त कामविकार उत्पन्न होता है ।

6. योगासन की विचित्राकार स्थापना देखने से योगी पुरुषों की बुद्धि योगाभ्यास में प्रीति को धारण करने वाली होती है ।

7. भूगोल का अभ्यास करने वाले नक्शादि देखकर विश्व की अनेक वस्तुओं का ज्ञान आसानी से कर सकते हैं ।

8. शास्त्र सम्बन्धी अक्षरों की स्थापना से उनको देखने वाले मनुष्य को तमाम शास्त्रों का ज्ञान भी हो जाता है ।

9. खेतों में पुरुष की आकृति खड़ी करने से वह आकृति निर्जीव होते हुए भी उसके द्वारा खेत की रक्षा अच्छी तरह से हो सकती है ।

10. लोगों में कहावत है कि अशोक वृक्ष की छाया चिन्ता को दूर करती है । चंडाल पुरुषों की अथवा रजस्वला स्त्रियों की छाया अशुभ

करती है और गर्भवती स्त्री की छाया का उल्लंघन करने से योगी पुरुषों का पुरुषार्थ नष्ट होता है–यह विज्ञानसिद्ध है ।

11. सती स्त्री का पति परदेश गया हो तब वह स्त्री अपने पति के फोटो (Photo) का रोज दर्शन कर संतोष प्राप्त करती है । श्री रामचन्द्रजी वनवास गये तब उनके भाई भरत महाराजा, राम की चरण-पादुका को राम की तरह ही पूजते थे । सीताजी भी राम की अंगूठी को हृदय से लगाकर राम के साक्षात् मिलन का आनन्द अनुभव करती थी । हनुमान द्वारा लाये हुए सीता के आभूषणों को देखकर रामचन्द्रजी भी अत्यन्त प्रसन्न हुए थे ।

श्री पांडवचरित्र में भी कहा गया है कि द्रोणाचार्य की प्रतिमा स्थापित करके उनके पास से एकलव्य नाम के भील ने अर्जुन जैसी धनुषविद्या सिद्ध की थी ।

उपर्युक्त द्रष्टांत ऐसे भी हैं जिनमें शरीर का विशेष आकार नहीं है, ऐसी निर्जीव वस्तुओं से भी सन्तोष का अनुभव प्राप्त होता हुआ देखा जा सकता है तो फिर साक्षात् परमात्मा के स्वरूप का बोध कराने वाली प्रभुप्रतिमा जिसमें पूर्ण आनन्द ही है, वह मोक्ष का कारण क्यों न बने ? शान्त मुद्रावाली श्री वीतराग परमात्मा की प्रतिमा की, उनके नाम-ग्रहण पूर्वक की गई पूजा, प्रभु को अवश्य प्राप्त करवा देती है ।

सेवक जैसे अपने स्वामी की मूर्ति द्वारा स्वामी की पूजा करके उसके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करता है, वैसे ही परमात्मा की मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा करने से पूजक भी महान् लाभ अवश्य प्राप्त कर सकता है । इसी कारण महापुरुषों ने श्री अरिहन्त परमात्मा आदि के चारों निक्षेप संसारी जीवों के लिए परम उपकारी और अत्यन्त लाभदायक बताये हैं । जिस वस्तु के भाव निक्षेप पर लोगों को सम्पूर्ण आदर हो, उनके नाम, स्थापना तथा गुणसमूह के स्मरण, दर्शन या श्रवण से अवश्य उस वस्तु के प्रति प्रेम और आदर में वृद्धि होती है ।

जिस पर प्यार है उसके नाम, मूर्ति या गुण को मान देने से साक्षात् वस्तु को ही मान और आदर देने का अनुभव होता है ।

किसी धनवान पिता ने परदेश से अपने पुत्र को पत्र द्वारा सूचना दी कि अमुक व्यक्ति को पाँच हजार रुपये दे देना । अब वह पुत्र उस पत्र को पिता का साक्षात् आदेश मानकर उस पर अमल करेगा या नहीं ? करेगा, ऐसा ही कहोगे तो वह आदेश, पत्र में स्थापना रूप होने से स्थापना मानने लायक सिद्ध हो गई । यदि कहोगे कि पत्र मात्र से इस बात पर अमल नहीं करना तो ऐसा करने वाले पुत्र के लिए क्या कहा जाएगा । उसने पिता की आज्ञा का पालन किया या उल्लंघन किया ? पालन नहीं, परन्तु उल्लंघन ही कहा जाएगा । इस द्रष्टि से श्री तीर्थंकर-गणधर-प्रणीत सूत्रों में प्रतिपादित स्थापना निक्षेप को मानने वाला स्वयं भगवान का ही आदर करने वाला बनता है तथा नहीं मानने वाला स्वयं भगवान का ही अपमान करने वाला बनता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है ।

अपने पूर्वजों के चित्र तथा फोटो आदि उनके सम्पूर्ण स्वरूप का बोध कराने वाले होने से उनके भाव निक्षेप की ओर आकर्षित करते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है । पर बड़े व्यक्तियों के पूर्णस्वरूप का बोध नहीं कराने वाले उनके वस्त्र, आभूषण एवं पोषाक आदि देखने से भी उनके गुण याद हो आते हैं । यदि निर्जीव स्थापना निक्षेप सर्वथा निरर्थक हो तो पूर्वोक्त कार्यों में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भाव आते हैं, वे नहीं आने चाहिए ।

अतः सोचना चाहिए कि परम पूजनीय, परमोपकारी, आराध्यतम, अनन्तज्ञानी, देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान की शान्त, निर्विकार और ध्यानारूढ़ भव्यमूर्ति के दर्शन से श्री वीतरागदेव के गुणों का स्मरण अवश्य होता ही है तथा उनकी उस मूर्ति को मान देकर हम उनका विनय करते हैं–ऐसा अवश्य कहा जाता है । इतना ही नहीं, पर उनकी मूर्ति के बारम्बार दर्शन, पूजन और सेवन से उनके भाव निक्षेप ऊपर का आदर और प्रेम दिन प्रतिदिन अवश्य बढ़ता जाता है ।

यदि वस्तु के भाव निक्षेप पर प्यार हो तो उसकी स्थापना आदि पर भी प्यार आता है । इसी तरह जिनके भाव निक्षेप पर द्वेष हो, उनके

नाम, स्थापना आदि चारों निक्षेपों पर भी द्वेषबुद्धि आती है । साक्षात् शत्रु को देखकर जैसे वैरभाव पैदा होता है वैसे ही उसकी मूर्ति को देखकर या नाम आदि सुनने से भी द्वेषभाव अवश्य प्रकट होता है ।

जो तीर्थंकरों के भावनिक्षेप पर भक्ति रखते हैं तथा उनकी मूर्ति पर द्वेष–उनसे पूछें कि तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो तुम्हारे मित्र आदि को साक्षात् देखकर तो तुम्हें प्रेम होना चाहिए परन्तु उनकी मूर्ति तथा नाम आदि देखकर और सुनकर प्रेम नहीं होना चाहिए परन्तु द्वेष पैदा होना चाहिए अथवा साक्षात् शत्रु से मुलाकात होते ही चित्त में क्रोधाग्नि प्रकट होनी चाहिए, परन्तु उसकी स्थापना तथा नाम से द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिए किन्तु आनन्द उत्पन्न होना चाहिए । पर ऐसा विपरीत क्रम किसी भी स्थान पर देखने में नहीं आता ।

कभी ऐसा कहा जाय कि शत्रु एवं मित्र दोनों में समभाव रखना चाहिए, किन्तु रागद्वेष नहीं करना चाहिए परन्तु ऐसा कथन केवल कहने मात्र का है । बड़े-बड़े योगीश्वर भी जब तक घाती कर्मों के योग से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक रागद्वेष से पूर्णतया नहीं छूट सकते तो संसार के अनेक जंजालों के मोह में फँसे गृहस्थ, रागद्वेष रहित समभाववाली अवस्था में रह सकते हैं, ऐसा कहना या मानना केवल आत्मवचना है । एक ओर केवल श्री तीर्थंकरदेव के भावनिक्षेप पर ही प्रेम रखने की बात करना तथा दूसरी ओर समभाव में रहने की बात करना इसमें प्रत्यक्ष मृषावाद है । भावनिक्षेप पर राग परन्तु मूर्ति पर द्वेष, यह राग-द्वेष रहित स्थिति का लक्षण कैसे माना जा सकता है । एक निक्षेप पर द्वेष रखने से दूसरे निक्षेप पर भी द्वेष स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । स्थापना निक्षेप पर द्वेष रखकर भावनिक्षेप पर प्रेम रखने की बात करना, यह आत्मवंचना के सिवाय और कुछ नहीं है ।

जो व्यक्ति प्रत्यक्ष में विद्यमान न हो तो उस व्यक्ति पर शुद्ध भाव पैदा करने के लिए उसकी स्थापना की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई सरल उपाय नहीं है । बिना स्थापना के अविद्यमान वस्तु के प्रति

शुद्ध भाव प्रकट किया ही नहीं जा सकता । चारों निक्षेपों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरा निक्षेप रह ही नहीं सकता ।

स्थापना का अनादर करने वाले से पूछा जाय कि वर्तमान में जो नोटों का चलन है ऐसे एक हजार रुपये का एक चैक अथवा ड्राफ्ट यदि तुम्हारे पास हो तो उसे तुम हजार रुपये मानते हो या कागज का टुकड़ा । यदि कहोगे कि `हम तो उसे कागज के टुकड़े के समान मानते हैं तो उसे साधारण कागज के टुकड़े की तरह एक-दो पैसे में या मुफ्त में दूसरे को क्यों नहीं देते ?' उसके उत्तर में कहोगे कि ऐसा मूर्ख कौन होगा जो हजार रुपये को एक पैसे में या मुफ्त में दे दे ? तो फिर जरा सोचना चाहिए कि जैसे एक हजार रुपये की अनुपस्थिति में उतनी रकम का काम एक चैक अथवा ड्राफ्ट से निकाला जा सकता है, वैसे ही श्री जिनेश्वरदेव की अनुपस्थिति में उनकी मूर्ति द्वारा भी साक्षात् भगवान को पूजने का फल अवश्य प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रश्न 49 :– द्रव्य निक्षेप किसे कहते है ?

उत्तर :– जो वस्तु भूतकाल में अथवा भविष्यत् काल में किसी कार्य के कारण रूप में निश्चित हो, उस कारणभूत वस्तु में कार्य का आरोपण करना, द्रव्य निक्षेप है । जैसे मृत साधु में तथा किसी साधु होने वाले गृहस्थ में, वर्तमान में साधुपना न होते हुए भी साधुपने का आरोप कर उसको साधु कहा जाता है, यह द्रव्य निक्षेप के आश्रयसे साधु है और इसी कारण साधु होने से पूर्व, साधु होने वाले को द्रव्य साधु मानकर उसकी दीक्षा का महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है तथा साधु के मृत शरीर की दाह-क्रिया के समय उसे पालखी में बिठाकर, पैसे उछालते हुए बड़े ठाट-बाट से ले जाया जाता है और लोग भी इनके दर्शन के लिये दौड़-दौड़ कर आते हैं ।

श्री तीर्थंकरदेवों के जन्म तथा निर्वाण के समय वन्दन, नमस्कार करने का पाठ **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** आदि शास्त्रों में है तो वह नमस्कार श्री तीर्थंकरदेव के द्रव्य निक्षेप को हुआ गिना जाता है न कि भावनिक्षेप को, क्योंकि जब तक केवलज्ञान नहीं हो, तब तक भावनिक्षेप नहीं कहलाता ।

भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी के जन्म समय शक्रेन्द्र के नमस्कार करने का उल्लेख **श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** में बताया हुआ है तथा उसी सूत्र में कहा है कि शक्रेन्द्र ने श्री हरीणगमेषी देव के द्वारा अपने हित एवं सुख के लिए श्री तीर्थंकरदेव का जन्ममहोत्सव करने हेतु वहाँ जाने का अपना अभिप्राय देवताओं को बताया था ।

यह सुनकर मन में प्रसन्न होकर कई देवता वन्दन करने, कई पूजा करने, कई सत्कार करने, कई सम्मान करने, कई कौतुक देखने, कई जिनेश्वरदेव के प्रति भक्तिराग निमित्त, कई शक्रेन्द्र के वचनपालन के लिए, कई मित्रों की प्रेरणा से, कई देवियों के कहने से, कई अपना आचार समझकर (जैसे कि सम्यग्द्रष्टि देवों को श्री जिनेश्वरदेव के जन्म-महोत्सव में अवश्य भाग लेना चाहिए) इत्यादि कारणों को अपने चित्त में स्थापन कर बहुत से देवी-देवता शकेन्द्र के पास आये । यदि द्रव्यनिक्षेप अपूजनीय अथवा निरर्थक होता तो सूत्र में सुख के लिए तथा भक्ति के निमित्त आदि शब्द वन्दना के अधिकार में कदापि नहीं आते ।

ऐसे ही श्री ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण के समय भी शक्रेन्द्र का आसन कम्पायमान होने पर अवधिज्ञान से भगवान का निर्वाण समय जानकर शक्रेन्द्र ने भगवान को वन्दन नमस्कार किया तथा सर्व सामग्री सहित श्री अष्टापद तीर्थ पर, जहाँ भगवान का शरीर था, वहाँ आकर उदासीनतापूर्वक अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री तीर्थंकरदेव के शरीर की तीन प्रदक्षिणा दी । मृतक के योग्य सारी विधि की, इत्यादि शास्त्रप्रमाण भी द्रव्यनिक्षेप की वन्दनीयता को सिद्ध करते हैं ।

इसके अतिरिक्त दूसरी तरह से भी द्रव्यनिक्षेप और उसकी पूजनीयता की सिद्धि होती है । श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में तथा वर्तमान काल में आवश्यक क्रिया करते समय साधु-श्रावक तमाम चतुर्विंशति स्तव (यानी लोगस्स सूत्र) का पाठ बोलते हैं ।

श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में, शेष तेईस तीर्थंकरों के जीव, चौरासी लाख जीवयोनि में भटकते थे इसलिये उनको उस समय किया

हुआ नमस्कार भावनिक्षेप से किया हुआ नहीं गिना जा सकता किन्तु द्रव्यनिक्षेप से ही किया हुआ गिना जाता है । वर्तमान काल में तो इनमें से एक भी भावनिक्षेप में नहीं है क्योंकि सभी सिद्धगति में गये होने से भावनिक्षेप में अरिहन्त रूप में नहीं परन्तु सिद्ध रूप में ही बिराजमान हैं । जो एक भावनिक्षेप को मानकर दूसरे नाम, स्थापना व द्रव्यनिक्षेप को मानने का निषेध होता तो `लोगस्स' द्वारा किसको नमस्कार किया जाय ?

लोगस्स में प्रकट रूप से **अरिहंते कित्तइस्सं** और **चउवीसंपि केवली** कहकर चौबीसों तीर्थंकरों को याद किया है । तीर्थंकरों का यह स्मरण भावनिक्षेप से है ही नहीं, परन्तु नाम तथा द्रव्यनिक्षेप से ही मानने का है । जो इन दो निक्षेपों को मानने के लिए तैयार नहीं, उनके मत से `लोगस्स' को मानने का रहता ही नहीं तथा `लोगस्स' नहीं मानने से आज्ञाभंग का महादोष लगे बिना भी नहीं रहता ।

पुनः साधु-साध्वी के **प्रतिक्रमणसूत्र** में भी कहा है कि श्री ऋषभदेव-स्वामी से श्री महावीरस्वामी तक चौबीसों तीर्थंकरों को नमस्कार हो ।

इसमें भी इन नामों के तीर्थंकर भावनिक्षेप से वर्तमान में कोई नहीं हैं, पर द्रव्यनिक्षेप से हैं । द्रव्यनिक्षेप नहीं मानने वाले को प्रतिक्रमण भी आवश्यक मानने का नहीं रहता और इससे भी आज्ञाभंग का महादोष लगता है ।

भावनिक्षेप का विषय अमूर्त होने से अतिशय ज्ञानियों के सिवाय अन्य कोई भी इसे साक्षात् पहचान व समझ नहीं सकते हैं । इसी कारण श्री जैनसिद्धान्त में सम्पूर्ण क्रियाओं का–नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार द्रव्यप्रधान नयों की मुख्यता से ही वर्णन किया गया है । द्रव्य निक्षेप की प्रधानता वाली क्रियाओं को यदि व्यर्थ माना जाता है, तो जैनमत का लोप ही हो जाता है ।

जैनसिद्धान्त को मानने वालों को द्रव्यार्थिक चारों नयों को मान्य रखकर द्रव्य-क्रिया का आदर करना उचित है । द्रव्य-निक्षेप की प्रधानता वाली क्रियाएँ परिणाम की धारा को बढ़ाने वाली हैं, जिससे भाव का परिपूर्ण निश्चय हुए बिना भी व्रतपच्चक्खाण आदि कराने की रीति श्री

जैनशासन में चल रही है । **श्री अनुयोगद्वार, श्री ठाणांग, श्री भगवतीजी** तथा **श्री सूत्रकृतांग** आदि अनेक सूत्रों में द्रव्यनिक्षेप की सिद्धि की हुई है और इस बात को सप्रमाण साबित कर दिया है कि द्रव्य के बिना भाव कदापि सम्भव नहीं है ।

परोपकारी महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी महाराज** ने स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचे हुए **श्री 'प्रतिमाशतक'** महाग्रन्थ में फरमाया है कि–

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणम् ।
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां, भावं पुरस्कुर्वता,–
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ? ।।1।।

भाव-भगवन्त की तद्रूपपने की बुद्धि का कारण–नाम, स्थापना और द्रव्य–ये तीन ही हैं । शुद्ध हृदयवालों को यह बात शास्त्रप्रमाण से तथा स्वानुभाव के निश्चय से बारम्बार प्रतिमा का आदर किये बिना ही श्री अरिहन्त परमात्मा के भाव को आगे बढ़ाने वालों की बुद्धि, अन्धे व्यक्तियों के दर्पण में देखने की बुद्धि के समान हास्यास्पद है ।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि भगवान की भावावस्था अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय तथा मन के लिए अगोचर है । उसे इन्द्रिय तथा मानसगोचर करने के लिए उनका नाम, आकार तथा द्रव्य का आलम्बन, यही एक साधन है । नाम, आकार और द्रव्य की भक्ति को छोड़कर केवल भाव की भक्ति करना या होना असम्भव है ।

प्रश्न 50 :– भाव निक्षेप किसे कहते है ?

उत्तर :– जिन-जिन नामवाली वस्तुओं में जो-जो क्रियायें सिद्ध हैं उन-उन क्रियाओं में वे-वे वस्तुएँ वर्तती हों तब वह भावनिक्षेप कहलाता है–जैसे कि उपयोग सहित आवश्यकक्रिया में प्रवृत्त साधु भावनिक्षेप से आवश्यक गिना जाता है । प्रत्येक वस्तु का स्वरूप इस प्रकार चारों निक्षेपों से जाना जा सकता है । उनमें से यदि एक भी निक्षेप अमान्य हो तो वह वस्तु, वस्तु के रूप में टिकती ही नहीं ।

जिस वस्तु को जिस भाव से माना जाता है उसके चारों निक्षेप

उसी भाव को प्रकट करते हैं । शुभ भाव वाली वस्तु के चारों निक्षेप शुभभाव को प्रकट करते हैं । मित्रभाव वाली वस्तु के चारों निक्षेप मैत्रीभाव को उत्पन्न करते हैं । कल्याणकारी वस्तु के चारों निक्षेप कल्याणभाव को पैदा करते हैं और अकल्याणकारी वस्तु के चारों निक्षेप अकल्याणभाव को पैदा करते हैं ।

इस संसार में सामान्य रूप से सारी वस्तुएँ हेय, ज्ञेय और उपादेय, इन तीनों में से किसी एक भेद वाली होती है । उदाहरण स्वरूप–स्त्रीसंग । साधुओं को स्त्रियों का साक्षात् संग निषिद्ध है । साक्षात् संग हेय है, अतः स्त्रियों का नाम, आकार एवं द्रव्य भी निषिद्ध हो जाता है । साधु पुरुषों के लिए स्त्रियों का भावनिक्षेप जिस प्रकार वर्जित है उसी प्रकार नामनिक्षेप से स्त्रीकथा का भी निषेध है, स्थापनानिक्षेप से स्त्री की चित्रित मूर्ति को देखने का भी निषेध है तथा द्रव्यनिक्षेप से स्त्री की पूर्वापर बाल्यावस्था तथा मृतावस्था आदि का स्पर्श भी निषिद्ध है । इस प्रकार हेय रूप वस्तु के चारों निक्षेप हेय रूप बनते हैं । केवल भावनिक्षेप को मानने वाले स्त्री के भावनिक्षेप को छोड़कर शेष तीनों निक्षेपों का आदर कदापि नहीं कर सकते ।

इस संसार में ज्ञेय वस्तु के भावनिक्षेप जिस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति में निमित्त बन सकते हैं उसी प्रकार चारों निक्षेप ज्ञान-प्राप्ति में निमित्त बन सकते हैं ।

जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, मेरु पर्वत, हाथी, घोड़ा आदि ज्ञेय वस्तुएँ हैं । उनको जिस प्रकार साक्षात् देखने से बोध होता है, उसी प्रकार उनके नाम आकार आदि देखने-सुनने से भी उन वस्तुओं का बोध होता है । हेय तथा ज्ञेय की भाँति उपादेय वस्तुएँ भी चारों निक्षेपों से उपादेय बनती हैं । श्री तीर्थंकर देव जगत् में परम उपादेय होने से उनके चारों निक्षेप भी परम उपादेय बन जाते हैं ।

समवसरण में बिराजमान साक्षात् श्री तीर्थंकरदेव भाव-निक्षेप से पूजनीय हैं इसलिए **'महावीर'** इत्यादि के नाम की भी लोग पूजा करते हैं । वैराग्य मुद्रा से युक्त ध्यानारूढ़ उनकी प्रतिमा को भी लोग पूजते हैं

तथा द्रव्यनिक्षेप से उनकी बाल्यावस्था की पूर्व अवस्था तथा निर्वाणदशा की उत्तरअवस्था को भी इन्द्र आदि देव भक्तिभाव से नमन करते हैं, पूजा करते हैं तथा उसका सत्कार करते हैं । इसके विपरीत अन्य देवों का भावनिक्षेप त्याज्य होने से उनके शेष तीनों निक्षेप भी सम्यग्द्रष्टि आत्माओं के लिए त्याज्य बन जाते हैं और इसी कारण आनन्द आदि दस श्रावकों ने वीतराग को छोड़कर अन्ये देवों को वन्दन नमस्कार नहीं करने की प्रतिज्ञा ली थी । उस समय वीतराग के सिवाय अन्य देव भावनिक्षेप से विद्यमान नहीं थे पर केवल उनकी मूर्तियाँ थीं । अतः आनन्दादिक श्रावकों की नमन नहीं करने की प्रतिज्ञा उनकी मूर्तियों को लक्ष्य करके ही थी, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार वीतराग के सिवाय अन्य देवों की मूर्तियों को नमन करने का निषेध जिनमूर्ति को नमस्कार करने के विधान को अपने आप ही सिद्ध कर देता है ।

यदि कोई रात्रिभोजन के त्याग के नियम को अंगीकार करता है, तो दिन में भोजन करने की उसकी बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार चारों निक्षेपों का परस्पर सम्बन्ध समझ लेने का है । उसमें विशेष बात यही है कि जिसके भावनिक्षेप शुद्ध और बन्दनीय हैं उसके ही शेष निक्षेप वन्दनीय और पूजनीय हैं, दूसरों के नहीं ।

इस पर से कोई ऐसा प्रश्न करे कि–`मरे हुए बैल को देखकर किसी को प्रतिबोध हो जाय तो क्या वह पूजनीय बन जाता है ?' तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिसका भावनिक्षेप वन्दन-पूजन योग्य है, उसी के शेष तीनों निक्षेपों की पूजा के लिए शास्त्रकार फरमाते हैं । साक्षात् बैल को किसी ने भी पूजा योग्य नहीं माना और इसी से उसका नाम आदि भी पूजनीय नहीं होता है । राजा करकंडू आदि प्रत्येकबुद्ध महर्षि ने अतिवृद्ध बैल को देखकर प्रतिबोध प्राप्त किया था, पर भाव बैल वन्दनीय नहीं होने से उनके प्रतिबोध में कारणभूत बैल के नामादिक वन्दन करने योग्य नहीं गिने गए ।

प्रश्न 51 :– स्त्री का चित्र साधु को नहीं देखना चाहिए, ऐसा फरमान किस सूत्र में है ?

उत्तर :– श्रुतकेवली आचार्य भगवान **श्रीमद् शय्यंभवसूरि महाराजा** द्वारा रचित **श्री दशवैकालिक सूत्र** के आठवें अध्याय में फरमाया है कि–

जिसमें स्त्री की मूर्ति हो ऐसी चित्रवाली दीवार को नहीं देखना तथा अलंकारयुक्त अथवा अलंकार रहित स्त्री को भी नहीं देखना । अचानक दृष्टिपात हो जाय तो सूर्य को देखकर जिस प्रकार दृष्टि नीची कर ली जाती है, उसी प्रकार द्रष्टि नीची कर लेनी चाहिए । स्त्री का चित्र देखकर मोह उत्पन्न होता है । इसलिए उसका जिस प्रकार निषेध किया गया है, उसी प्रकार वीतराग परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन से वीतराग दशा का साक्षात्कार होता है; अतः वीतराग अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी को भी वीतराग परमात्मा के सदैव दर्शन आदि करने की आवश्यकता बतलाई गई है ।

प्रश्न 52 :– स्त्री की मूर्ति देखकर प्रत्येक को काम-विकार उत्पन्न होता दिखाई देता है, परन्तु प्रतिमा को देखकर वैराग्यभाव सभी को उत्पन्न होता हो, ऐसा तो दिखाई नहीं देता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर :– जिनको प्रतिमा पर द्वेष अथवा दुर्भाव है उनको वीतराग की मूर्ति देखने पर भी शुभभाव प्रकट होना कठिन है परन्तु जो लघुकर्मी जीव हैं उनको तो श्री वीतरागदेव की शान्त मुद्रा के दर्शन के साथ ही रोम-रोम में प्रेम उमड़े बिना नहीं रहता । मुनि की शान्त मूर्ति को देखकर भी किसी पापी आत्मा के मन में जिस प्रकार भक्तिभाव उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही जिसको मूर्ति के प्रति द्वेष या दुर्भाव होता है, ऐसी आत्मा को मूर्ति के दर्शन से भी भक्तिभाव उत्पन्न नहीं हो, यह स्वाभाविक है । जगत् का सामान्य नियम तो ऐसा है कि गुणवान की मूर्ति देखकर उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने की उत्कण्ठा हुए बिना नहीं रहती, पर उसमें भी अपवाद होते हैं ।

श्री आचारांग सूत्र में फरमाया है कि–

''जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा ।''

अर्थात्–परिणाम की द्रष्टि से जो आस्त्रव के कारण होते हैं; वे संवर के कारण बनते हैं तथा जो संवर के कारण होते हैं; वे आस्त्रव के कारण बनते हैं ।

इलाचिपुत्र पाप के इरादे से घर से निकले थे तथापि उन्होंने परिणाम की विशुद्धता से बाँस की डोरी पर नाच करते समय केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

भरत चक्रवर्ती का काच के भुवन में रूप देखने जाना आस्त्रव का कारण था; परंतु मुद्रिका के गिरने से शुभ भावनाओं में आरूढ़ होते ही उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ।

इसी प्रकार साधु मुनिराज संवर एवं निर्जरा के कारण हैं, फिर भी उनको दुःख देने, उनका बुरा विचारने तथा उनकी निन्दा आदि करने से जीव अशुभ कर्म का आस्त्रव करता है, परन्तु इससे साधु मुनिराज की पूज्यता नष्ट नहीं हो जाती । साक्षात् भगवान श्री महावीरदेव को देखकर भी संगमदेव तथा ग्वाले आदि के अशुभ परिणाम हुए, इसमें कारण उनका अशुभ भाव ही है । एक कवि ने कहा है कि–

पत्रं नैव यदा करीरविटपे, दोषो वसन्तस्य किं,
उल्लूको न विलोकते यदि दिवा, सूर्यस्य किं दूषणम् ।
वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे, मेघस्य किं दूषणं,
यद्भाग्यं विधिना ललाटलिखितं, दैवस्य किं दूषणम् ।।

करीर के वृक्ष पर पत्ते नहीं आते, उसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष ? उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता तो इसमें सूर्य का क्या दोष ? वर्षा की बूँदें चातक के मुख में नहीं गिरती तो इसमें मेघ का क्या दोष ? तथा इसी प्रकार ललाट पर लिखे भाग्यानुसार फल भोगना पड़े तो इसमें दैव का भी क्या दोष माना जाय ?

इसी प्रकार श्री देवाधिदेव की मूर्ति तो शुभ भाव का ही कारण है तथापि उनके द्वेषी, दुष्ट परिणामी तथा हीनभागी जीवों को भाव उत्पन्न न हो तो वास्तव में उन्हीं की कमनसीबी है । सूर्य के सामने कोई धूल डाले अथवा सुगन्धित पुष्प फेंके, दोनों फेंकने वाले की ओर ही लौटते

हैं । अथवा कठोर दीवार पर कोई मणि या पत्थर फेंके तो वे वस्तुएँ फेंकने वाले की ओर ही वापिस आती हैं, अथवा चक्रवर्ती राजा की कोई निन्दा या स्तुति करे तो उससे उसका कुछ बिगड़ता-बनता नहीं, पर निन्दक स्वयं दुःख का भागी बनता है एवं प्रशंसक स्वयं उत्तम फल प्राप्त करता है ।

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार पथ्य-आहार लेने से खाने वाले को सुख मिलता है और अपथ्य भोजन करने से भोजन करने वाले को दुःख मिलता है, पर आहार में काम में ली हुई वस्तु को कुछ नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार परमात्ममूर्ति की स्तुति, भक्ति अथवा निन्दा करने से अलिप्त ऐसे परमात्मा पर कुछ भी असर नहीं होता है परन्तु निन्दक स्वयं दुर्गतियोग्य कर्म उपार्जित करता है व पूजक शुभ कर्म का उपार्जन कर स्वयं सद्गति का पात्र बनता है ।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ब्रह्मचारी महात्माओं को स्त्री की मूर्ति देखने का निषेध किया है परन्तु साक्षात् स्त्री के हाथ से आहार-पानी लेने का निषेध नहीं किया । स्त्रियाँ दर्शन-वन्दन करने आवें, घंटों तक व्याख्यान सुनने बैठी रहें, धर्मचर्चा सम्बन्धी शंका-समाधान अथवा वार्तालाप करें, आदि कार्यों में स्त्री का साक्षात् परिचय होते हुए भी निषेध नहीं किया, पर स्त्री के चित्रांकन वाले मकान में रहने का निषेध किया है, इसका क्या कारण ?

चित्र में अंकित स्त्री की आकृति मात्र से कोई आहार-पानी मिल नहीं सकता या वार्तालाप हो नहीं सकता है । चित्रांकित स्त्री उठकर स्पर्श भी नहीं कर सकती, फिर भी शास्त्रकारों ने उसे निषिद्ध बताया है । इसके पीछे कारण केवल इतना ही है कि स्त्री के चित्र अथवा मूर्ति की ओर चित्त की जैसी एकाग्रता होती है, मन में दूषित भाव उठते हैं, धर्मध्यान में बाधा पहुँचती है तथा कर्मबन्धन होने के प्रसंग उपस्थित होते हैं, वैसे धर्म के निमित्त साक्षात् सम्पर्क में आने वाले प्रसंगों में सम्भव नहीं है, इसका कारण यह है कि वहाँ अशुभ मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का अवसर साधु को कठिनाई से मिलता है जबकि मकान

में स्त्री की मूर्ति होने पर उस ओर टकटकी नजर से बारम्बार देखने का तथा उसमें चित्त के एकाग्र तथा लीन बनने की ज्यादा सम्भावना रहती है तथा परिणामस्वरूप मन में विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसे अनिष्टों का पूरा-पूरा भय रहता है ।

सूत्रकार महर्षियों की आज्ञा निष्प्रयोजन अथवा विचार रहित नहीं हो सकती । इस पर से यह निश्चित हो जाता है कि मन को स्थिर कर शुभ ध्यान में लाने के लिए शुभ और स्थिर आलम्बन की विशेष आवश्यकता है । ऐसा स्थिर एवं शुभ आलम्बन श्री जिनराज की शान्त मूर्ति के सिवाय दूसरा एक भी नहीं ।

इससे दूसरी बात यह भी सिद्ध होती है कि उत्तम ध्यान एवं मन की एकाग्रता करने की अपेक्षा श्री जिनमूर्ति की श्रेणी साक्षात् जिनराज से भी बढ़ जाती है और इसी कारण **श्री रायपसेणी** आदि शास्त्र-ग्रन्थों में साक्षात् तीर्थंकरदेव को वन्दन नमस्कार करते समय **'देवयं चेइयं'** जैसे पाठ हैं अर्थात् जैसी मैं जिनप्रतिमा की भक्ति करता हूँ वैसी ही अन्तरंग प्रीति से आपकी (साक्षात् अरिहन्त की) भक्ति करता हूँ । पुनः साक्षात् भगवान को नमस्कार करते समय–

'सिद्धिगई नामधेयं, ठाणं संपाविउ कामस्स ।'

अर्थात्–'सिद्धिगति नाम के स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले' इस प्रकार बोला जाता है और श्री जिनप्रतिमा के आगे–

'सिद्धिगई नामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।'

अर्थात्–''सिद्धिगति नाम के स्थान पर पहुँचे हुए'' इस प्रकार कहने में आता है । इन पाठों आदि का सच्चा रहस्य समझ कर पूर्वाचार्यों द्वारा अत्यन्त आदर सहित प्रमाणित की हुई श्री जिनप्रतिमा का अन्तरंग से आदर करना चाहिए ।

प्रश्न 53 :– क्या कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण है कि स्थाप्य की स्थापना किये बिना कोई भी धर्मक्रिया हो ही नहीं सकती ?

उत्तर :– श्री जैनधर्म में समस्त धर्मक्रियाएँ स्थापना के सम्मुख ही करनी चाहिए, इसके लिए अनेक सूत्रों के प्रमाण हैं । जैसे देव के

अभाव में देव की मूर्ति चाहिए । वैसे ही गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करनी चाहिए । दुषम काल में सूर्य समान पूर्वधर आचार्य भगवान **श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण महाराज** स्वरचित **श्री विशेषावश्यक महाभाष्य** में गुरु-अभाव में गुरु की स्थापना करने के विषय में निम्नलिखित गाथा द्वारा फरमाते हैं–

गुरुविरहंमि ठवणा गुरुवएसोवदंसएत्थं च ।
जिणविरहंमि जिणबिंबसेवणामंतणं सहलं ।।1।।

श्री ठाणांग सूत्र में भी दस प्रकार की स्थापना बताई है । उसकी स्थापना कर **'पंचिंदिय'** सूत्र से उसमें गुरु महाराज के गुणों का आरोपण कर उसके आगे धर्मक्रिया करना उचित है । स्थापना में मुख्य स्थापना **'अक्ष'** की करते हैं । वह तीन, पाँच, सात या नौ आवर्त वाला हो तो उत्तम गिना जाता है । उसका फल **श्री भद्रबाहुस्वामी** कृत **'स्थापना कुलक'** में विस्तार से बताया गया है । **उपाध्याय श्री यशोविजयजी** महाराज ने भी स्थापना की सज्झाय बतलाई है । उसमें भी इसका फल तथा विधि बताई है ।

पूर्वोक्त **'अक्ष'** का योग न बने तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण जैसे कि पुस्तक, नवकारवाली आदि में स्थापना करने का विधान किया हुआ है ।

आवश्यक धर्मक्रियाओं में स्थान-स्थान पर गुरु महाराज की आज्ञा मांगनी पड़ती है तो वह क्रिया करते समय साक्षात् गुरु न होने की स्थिति में उनकी स्थापना बिना कैसे काम चल सकता है ?

श्री समवायांग सूत्र में बारहवें समवाय में गुरुवन्दन के पच्चीस बोल पूरे करने का आदेश है । उसका पाठ निम्नांकित है–**दुवालसावत्ते कित्तिकम्मे पन्नते, तं जहा ।**

दुओणयं जहाजायं कित्तिकम्मं बारसावय ।
चउसिरं तिगुत्तं, दुप्पवेसं एगनिक्खमणं ।।1।।

अर्थात् वन्दन क्रिया में बारह आवर्त्त फरमाए हैं, वे इस प्रकार हैं: अवनत अर्थात् दो बार मस्तक झुकाना और एक यथाजात अर्थात् जन्म तथा दीक्षा ग्रहण करते समय की मुद्रा धारण करनी । बारह आवर्त्त अर्थात् प्रथम के प्रवेश में छह तथा दूसरे प्रवेश में छह ये **'अहो कायं कायसंफासं ।'** आदि पाठ से करना चाहिए ।

चार बार सिर अर्थात् पहले तथा दूसरे प्रवेश में दो-दो बार सिर झुकाना, त्रि गुप्त अर्थात् मन-वचन-काया इन तीनों से वन्दना सिवाय दूसरा कार्य न करना, दो प्रवेश अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा में प्रवेश करना और एक निष्क्रमण अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा में प्रवेश रूप अवग्रह से बाहर निकलना, इस प्रकार कुल पच्चीस बोल हुए, उसमें गुरुमहाराज की हद में दो बार प्रवेश करना और एक बार निकलना यह प्रत्यक्ष गुरु के अभाव में उनकी स्थापना बिना किस प्रकार सम्भव है ?

वन्दन के पाठ में गुरुमहाराज की आज्ञा मांगकर भीतर प्रवेश करने की स्पष्ट आज्ञा है, जैसे कि–

''इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहो कायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो ।''

अर्थात्–मेरी यह इच्छा है कि हे क्षमाश्रमण ! वन्दन हेतु पाप-व्यापार से रहित शरीर की शक्ति से मित अवग्रह अर्थात् साढ़े तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र में प्रवेश करने की मुझे आज्ञा प्रदान करो । उस समय गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य **'निसीहि'** अर्थात् गुरुवन्दन सिवाय अन्य क्रिया का निषेध कर अवग्रह में प्रवेश करे और दोनों हाथ मस्तक पर लगाकर गुरु के चरण स्पर्श करते हुए **'अहो कायं कायसंफासं ।'** आदि पाठ कहे, जिसका अर्थ है–**'हे भगवन्त ! आपकी अधोकाया अर्थात् चरण-कमल को मेरी उत्तम काया अर्थात् मस्तक द्वारा स्पर्श करते समय आपको जो कष्ट पहुँचाया हो उसे क्षमा करो ।'**

इस प्रकार अनेक स्थानों पर गुरु महाराज की आज्ञा मांग कर क्रिया करने की होती है । ऐसी क्रिया गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना बिना कैसे हो सकती है ?

यदि कहोगे कि गुरु-अवस्था की आकृति की मन में कल्पना कर आज्ञा आदि मांगूंगा तब तो स्थापना निक्षेप का सहज रूप से स्वीकार हो गया । फिर मृत्यु उपरान्त अन्य गति में गये हुए गुरुओं को याद करके उनका गुणगान करने में आता है, तो उसको किस निक्षेप के अधीन समझेंगे ? गुरुपने का भाव निक्षेप तो उस समय उपस्थित होता ही नहीं है । भावनिक्षेप से तो गुरु अन्य गति में हैं । इतना होने पर भी **'गुरुपने की पूर्ण अवस्था की मन में कल्पना करके गुणगान आदि करने में आता है,'** ऐसा कहने से स्थापना निक्षेप एवं द्रव्य निक्षेप दोनों का सहज स्वीकार हो जाता है ।

प्रश्न 54 :– श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में शेष तेईस तीर्थंकरों के जीव संसार में थे; फिर भी उस समय उनको वन्दन करने में धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में अन्य तेईस तीर्थंकरों के वन्दन का विषय द्रव्यनिक्षेप के आधीन है । द्रव्य बिना भाव, स्थापना अथवा नाम कुछ भी नहीं हो सकता । श्री ऋषभदेव स्वामी ने जिन जीवों को मोक्षगामी बताया, वे सभी पूजनीय हैं ।

जिस प्रकार धनाढ्य साहूकार के हाथ से लिखी हुई, उसके हस्ताक्षर व मोहर वाली; अवधि विशेष की हुंडी हो तो उसकी अवधि पूर्ण होने के पूर्व भी रकम से काम निकाला जा सकता है, उसी प्रकार मोक्षगामी भव्य जीवों की ऋषभदेव स्वामी द्वारा दी हुई विश्वस्तता रूपी हुंडी को कौनसा विचारशील व्यक्ति अस्वीकार करेगा ?

भगवान के वचन-विश्वास रूपी प्रबल कारण को लेकर बाकी के तेईस तीर्थंकर, प्रथम तीर्थंकर के समय में भी वन्दनीय थे । इस सम्बन्ध में **श्री आवश्यक सूत्र** में मूल पाठ भी है कि–

'चत्तारि-अट्ठ-दस-दोय, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।'

अर्थात्–चारों दिशाओं में क्रम से चार, आठ, दस और दो इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के बिम्ब श्री भरत महाराजा ने अष्टापद पर्वत पर स्थापित किये हैं । इस विषय में निर्युक्तिकार श्रुतकेवली आचार्य

भगवान **श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी महाराज** ने समाधान किया है कि भरत राजा ने श्री ऋषभदेव स्वामी को भावी में होने वाले तेबीस तीर्थंकरों के नाम, लक्षण, वर्ण, शरीर का प्रमाण आदि पूछकर उसी के अनुसार, अष्टापद गिरि पर श्री जिनमन्दिर बनाकर सभी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ ठीक वैसे ही आकार की स्थापित की थीं ।

इससे सिद्ध होता है कि तेईस तीर्थंकरों के होने से पूर्व भी उनकी पूजा तथा मूर्ति तथा मन्दिर द्वारा उनकी भक्ति करने की प्रथा सनातन काल से चली आ रही है और इसे महान् ज्ञानी पुरुषों ने स्वीकार भी किया है ।

प्रश्न 55 :– 'सिद्धायतन' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– 'सिद्धायतन' गुणनिष्पन्न नाम है । इसका अर्थ जिनमन्दिर होता है । **'सिद्ध'** अर्थात् सिद्ध भगवान की प्रतिमा और **'आयतन'** अर्थात् घर । अर्थात् जिनघर या जिनमन्दिर वैताढ्यपर्वत, चुल्लहिमवंत पर्वत, मेरु पर्वत, श्री मानुषोत्तर पर्वत, श्री नन्दीश्वर द्वीप, श्री रुचक द्वीप आदि पर्वत तथा द्वीपों पर अनेक शाश्वत जिनमूर्तियों वाले मन्दिरों के होने का प्रमाण **श्री जीवाभिगम** तथा **श्री भगवती** आदि सूत्रों में स्पष्ट बताया है और उन सूत्रों को तमाम जैन मानते हैं ।

प्रश्न 56 :– कई लोग श्री जिनप्रतिमा से जिनबिम्ब नहीं लेकर, श्री वीतरागदेव के नमूने के समान साधु को ग्रहण करते हैं, क्या यह उचित है ?

उत्तर :– उनकी यह मान्यता झूठी एवं कल्पित है । सूत्रों में स्थान-स्थान पर श्री जिनप्रतिमा, जिनवर तुल्य कही गई है । **श्री जीवाभिगम** आदि सूत्रों में जहाँ-जहाँ शाश्वती प्रतिमा का अधिकार है, वहाँ-वहाँ **'सिद्धायतन'** अर्थात् **'सिद्ध भगवान'** का मन्दिर कहा है । परन्तु **'मूर्ति-आयतन'** अथवा **'प्रतिमा-आयतन'** नहीं कहा है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि श्री सिद्ध की प्रतिमा सिद्ध के समान है ।

श्री रायपसेणी सूत्र तथा **श्री जीवाभिगम सूत्र** में श्री सूर्याभ देवता तथा श्री विजयपोलीआ की द्रव्यपूजा का अधिकार **'धूवं दाऊणं**

जिणवराणं' अर्थात् **'श्री जिनेश्वरदेव को धूप करके'** कहा है। इससे भी श्री जिनप्रतिमा जिनवर समान मानी गई है, यह सिद्ध होता है।

पुनः **'श्री रायपसेणी, श्री दशाश्रुतस्कन्ध** और **श्री उववाई'** आदि अनेक सूत्रों में तीर्थंकर को वन्दन के लिए जाते समय श्रावकों के अधिकार में कहा है कि–**'देवयं चेइयं पज्जुवासामि'** अर्थात् देवसम्बन्धी चैत्य अर्थात् श्री जिनप्रतिमा, उनके सामने मैं पर्युपासना करूंगा। ऐसे अनेक स्थलों पर भाव तीर्थंकर तथा स्थापना तीर्थंकर की एक समान पर्युपासना करने का पाठ है; जिससे दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

भाव या स्थापना दोनों में से किसी की भी भक्ति और पूजा जिस भाव से की जाती है, तदनुसार फल की प्राप्ति होती है।

श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी पूजन के अधिकार में श्री **'जिनमन्दिर'** को श्री **'जिनगृह'** कहा है पर **'मूर्ति-गृह'** नहीं कहा। इस पर से भी श्री जिनमूर्ति को ही जिन की उपमा घटती है न कि साधु की। साधु वस्त्र, पात्र, रजोहरण और मुहपत्ति आदि उपकरण सहित है जबकि भगवान के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता। भगवान रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठते हैं, उनके दोनों ओर चँवर ढाले जाते हैं, पीछे भामण्डल रहता है, आगे देवदुन्दुभि बजती है, देवता पुष्पवृष्टि करते हैं इत्यादि अतिशयों से युक्त भगवान होते हैं। साधु के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता है। तब फिर साधु की श्री वीतराग से तुलना कैसे कर सकते हैं ?

पर्यंकासन पर बिराजमान सौम्य द्रष्टि वाली वीतराग अवस्था की प्रतिमा तो श्री अरिहन्त भगवान के तुल्य है। वीतराग की मूर्ति को वीतराग का नमूना कहा जाता है, साधु का नहीं। साधु के नमूनें को ही साधु कहा जाता है। **श्री अंतगडदशा** सूत्र में कहा है कि **'हरिणगमेषी की प्रतिमा की आराधना करने से वह देव आराध्य बन गया'** इसी प्रकार श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना करने से श्री वीतरागदेव आराध्य बन जाते हैं।

प्रश्न 57 :– श्री जिनप्रतिमा को जिनवर समझकर नमस्कार करो तो वह नमस्कार मूर्ति को हुआ, भगवान को नहीं, क्योंकि भगवान

तो मूर्ति से भिन्न हैं । मूर्ति को नमस्कार करने से भगवान को नमस्कार नहीं होता और भगवान को नमस्कार करने से मूर्ति को नमस्कार नहीं होता । इसका क्या समाधान है ?

उत्तर :– मूर्ति और भगवान सर्वथा भिन्न नहीं हैं । इन दोनों में कुछ समानता है । श्री जिनमूर्ति को नमस्कार करते समय श्री जिनेश्वर भगवान का भाव लाकर नमस्कार किया जाता है अतः दोनों भिन्न नहीं कहे जाते ।

जैसे यहाँ बैठे महाविदेहक्षेत्र में बिराजमान श्री सीमन्धर स्वामी को सभी जैन वन्दन-नमस्कार करते हैं, तब राह में लाखों घर, वृक्ष, पर्वत आदि अनेक वस्तुएँ बीच में आती हैं तो नमस्कार उन वस्तुओं को हुआ या श्री सीमन्धर स्वामी को ? यदि कहोगे कि नमस्कार करने का भाव भगवान को होने से भगवान को ही नमस्कार हुआ, अन्य वस्तु को नहीं; तथा केवलज्ञान से भगवान भी उस वन्दना को इसी रीति से जानते हैं, उसी तरह मूर्ति द्वारा भी भगवान का भाव लाकर वन्दन-पूजन करने में आए तो उसे क्या भगवान नहीं जानते ?

इसी तरह साधु को वन्दन-नमस्कार करते हुए भी उनके शरीर को वन्दन होता है या उनके जीवन को ? यदि शरीर को नमस्कार किया जाता हो तो जीव तो शरीर से पृथक् वस्तु है और जो जीव को नमस्कार करने में आता हो तो बीच में काया का अवरोध उपस्थित है और काया जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य है ।

यदि कहोगे कि यह पुद्गलद्रव्य साधु का ही है तो फिर मूर्ति भी देवाधिदेव श्री वीतराग प्रभु की है, ऐसा क्यों नहीं सोच सकते हो ? मुनि की काया को वन्दन करने से जैसे मुनि को वन्दन होता है वैसे ही श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति को वन्दन करने से साक्षात् श्री वीतराग प्रभु को ही वन्दन होता है ।

प्रश्न 58 :– निराकार भगवान की उपासना ध्यान द्वारा हो सकती है तो फिर मूर्तिपूजा मानने का क्या कारण ?

उत्तर :– मनुष्य के मन में यह ताकत नहीं कि वह निराकार का

ध्यान कर सके । इन्द्रियों से ग्राह्य वस्तुओं का विचार मन कर सकता है । उसके अतिरिक्त वस्तुओं की कल्पना मन में नहीं आ सकती ।

जो-जो रंग देखने में आते हैं, जिन-जिन वस्तुओं का स्वाद लिया जाता है, जिन-जिन वस्तुओं का स्पर्श किया जाता है, जो गन्ध सूंघने में आती है अथवा जो शब्द सुनने में आते हैं, उतने तक का ही विचार मन कर सकता है, उनके अतिरिक्त रंग, रूप अथवा गन्ध आदि का ध्यान, स्मरण अथवा कल्पना करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है ।

यदि किसी ने **'पूर्णचन्द्र'** नाम के व्यक्ति का केवल नाम सुना हो, उसे आँखों से देखा भी न हो और न कभी उसका चित्र देखा हो तो क्या नाम मात्र से **'पूर्णचन्द्र'** नाम के व्यक्ति का ध्यान आ सकता है ? नहीं । उसी प्रकार भगवान को साक्षात् अथवा मूर्ति द्वारा जिसने देखा नहीं हो, वह उनका ध्यान किस प्रकार कर सकता है ?

जब-जब ध्यान करना होता है तब-तब कोई-न-कोई वस्तु नजर सम्मुख रखनी ही होती है । भगवान का ज्योतिस्वरूप मान कर उनका ध्यान करने वाला उस ज्योति को श्वेत, श्याम आदि किसी न किसी रंग वाली मानकर ही उसका ध्यान कर सकता है । सिद्ध भगवन्तों में ऐसा कोई भी पौद्गलिक रूप नहीं है, उनका रूप अपौद्गलिक है जिसे सर्वज्ञ केवलज्ञानी सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकते हैं ।

श्री सिद्धचक्र यंत्र में श्री सिद्ध भगवन्तों की लाल रंग की कल्पना की गई है, परन्तु वह केवल ध्यान की सुविधा की द्रष्टि से है, वास्तविक नहीं । निराकार सिद्ध का ध्यान अतिशय-ज्ञानी को छोड़कर दूसरा कोई भी करने में समर्थ नहीं है ।

कोई कहेगा कि हम मन में मानसिक मूर्ति की कल्पना कर, सिद्ध भगवान का ध्यान करेंगे परन्तु पत्थर जड़ मूर्ति को नहीं मानेंगे । उनका यह कथन भी विवेकशून्य है क्योंकि यदि उनसे पूछा जाय कि तुम्हारी मानसिक मूर्ति का रंग कैसा है ? लाल या श्वेत ? तो वे क्या उत्तर देंगे ? यदि वे कहें कि-**'उसका रूप नहीं, रंग नहीं या कोई वर्ण नहीं है अतः किस प्रकार बताया जाए ? तो उन्हें यह कहना चाहिये**

कि जिसका रूप, रंग अथवा वर्ण नहीं उसका ध्यान करने की तुम्हारे में शक्ति भी नहीं है ।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष मूक्ति को मानने की बात से छुटकारा पाने के लिए मानसिक मूर्ति मानने से अन्त में ध्यान रहित दशा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । जब मूर्ति के अभाव में ध्यान बनता ही नहीं, तो प्रकट रूप से मानने में क्या आपत्ति है ? मानसिक मूर्ति अद्रश्य एवं अस्थिर है जबकि प्रकट मूर्ति द्रश्य एवं स्थिर है और इसीलिए ध्यान आदि के लिए अनुकूल है ।

साथ ही भगवान श्री तीर्थंकर देवता समवसरण में भी पूर्व की ओर मुख कर बैठते हैं तथा शेष तीनों ओर देवतागण भगवान की तीन मूर्तियों की स्थापना करते हैं, ऐसा **श्री समवसरण प्रकरण, श्री समवायांग सूत्रटीका, श्री तत्त्वार्थ सूत्रटीका** आदि प्राचीन ग्रन्थ प्रमाणित करते हैं ।

कई लोग यह कहते हैं कि **'भगवान के अधिक से अधिक चार मुख दिखाई देते हैं पर तीन और मूर्ति है, ऐसा नहीं है'** यह बात भी झूठी है । कारण यह है कि किसी भी शास्त्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है ।

समवसरण की रचना से भी चित्त की एकाग्रता के लिए मूर्ति की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है । भगवान की भव्य मूर्ति के दर्शन से उनके गुण याद आते ही श्रद्धालु लोगों को भगवान के साक्षात्कार जैसा आनन्द प्राप्त होता है तथा मूर्ति को साक्षात् भगवान समझ कर भावयुक्त भक्ति होती है । उस समय भक्ति करने वाले के मन के अध्यवसाय कितने निर्मल होते होंगे तथा उस समय वह जीव कैसे शुभ कर्मों का उपार्जन करता होगा, इसका सच्चा और पूरा ज्ञान सर्वज्ञ के सिवाय अन्य किसी के पास नहीं है ।

जो लोग अपनी कल्पना से परमात्मा का मानसिक ध्यान करने का आडम्बर करते हैं, वे सैकड़ों अथवा हजारों कोस वाहन आदि में बैठकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का नाश कर अपने गुरु आदि की वन्दना

करने के लिए क्यों जाते होंगे ? क्या गुरु का मानसिक ध्यान घर बैठे शक्य नहीं है कि जिस कारण गुरु के मूर्तिमय शरीर की वन्दना हेतु, हिंसा करके हजारों कोस जाने की जरूरत पड़ती है ।

सांसारिक जीव अनेक चिन्ताओं से ग्रस्त होते हैं । किसी आलम्बन के अभाव में उनको शुभध्यान की प्राप्ति होना आसान नहीं है । अस्थिर मन एवं चंचल इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना बच्चों का खेल नहीं है । किसी वाद्य यंत्र पर गाया हुआ गीत कानों में पड़ते ही चंचल मन उधर चला जाता है । उस समय ध्यान की बातें कहीं उड़ जाती हैं । ऐसी चंचल मनोवृत्ति वाले लोलों के लिए श्री जिनपूजा में लीन हो जाना, यही एक परम ध्यान है ।

अनेक चिन्ताओं से युक्त गृहस्थाश्रम में जिनपूजा अनादर करना, केवल हानिकारक ही है । दुनियादारी की विविध झंझटों में फँसे हुए गृहस्थों के लिए मूर्ति के आलम्बन बिना मानसिक ध्यान होना सर्वथा असम्भव है । श्री जिनपूजा का आदर करके तथा मूर्ति के माध्यम से श्री जिनेश्वरदेव के गुणगान आदि करने से चंचल मन स्थिर होता है तथा स्थिर हुए मन को संसार की असारता आदि का बोध सरलता से कराया जा सकता है । सुख-दुःख में जब तक सम-भाव नहीं आता है, तब तक बड़े-बड़े योगिराजों की तरह आलम्बन-रहित ध्यान की बातें करना व्यर्थ है । जिस समय वह समभाव वाली स्थिति आ जायेगी, आलम्बन स्वतः ही छूट जाएगा ।

श्री जैनधर्म के मर्मज्ञ पूर्वाचार्य महर्षियों ने प्रत्येक जीव को अपने गुणस्थानक अनुसार क्रिया अंगीकार करने का आदेश दिया है । वर्तमान में कोई भी जीव सातवें गुणस्थानक से आगे नहीं चढ़ सकता है । जीवन के भिन्न-भिन्न समय में प्राप्त सातवें गुणस्थानक के कुल समय के भिन्न-भिन्न समय में प्राप्त सातवें गुणस्थानक के कुल समय को जोड़ा जाय तो वह एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं बनता । इसलिये वर्तमान के जीवों को ऊँचे से ऊँचा छठे गुणस्थानक तक ही समझना चाहिए । वह गुणस्थानक प्रमादयुक्त होने से उसमें रहने वाले जीव भी निरालम्बन

ध्यान करने में असमर्थ है । ऐसे होने पर भी जो लोग छठे गुणस्थानक की सीमा को भी नहीं पहुँच पाये हैं तथा अनेक सांसारिक प्रपंचों में गुँथे हुए हैं, वे निरालम्बन ध्यान की बातों का प्रदर्शन करते हैं, वह केवल आडम्बर है । चौथे, पाँचवें गुणस्थानक में होने के नाते श्रावक, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा करने के अधिकारी हैं, जबकि साधु उनसे ऊँचे स्थान अर्थात् छठे गुणस्थानक में होने से केवल भावपूजा के अधिकारी हैं ।

जिस प्रकार व्यावहारिक शिक्षा में पहले क, का आदि फिर बारहखड़ी, उसके बाद शास्त्राभ्यास, ऐसा क्रम है, उसी प्रकार गुणस्थानक की ऊँची दशा में चढ़ते समय क्रिया में भी परिवर्तन होता रहता है । सीढ़ियाँ छोड़कर एकदम छलाँग मारकर भवन के ऊपरी भाग पर चढ़ने का अविवेक पूर्ण प्रयत्न करने से वह स्थान तो बहुत दूर रह जाता है, परन्तु इसके विपरीत नीचे गिरने से हाथ-पैर अवश्य टूट जाते हैं ।

अब यदि कोई प्रश्न करता है कि संसार पर राग कम किया और भगवान पर राग बढ़ाया तो इसमें भी राग तो कायम ही रहा । जब तक राग-द्वेष-रहित नहीं बनेंगे तब तक मुक्ति कैसे मिल सकती है ? यह प्रश्न भी नासमझी का है । पूर्ण रूप से राग रहित होने की शक्ति नहीं आवे तब तक प्रभु के प्रति राग रखने से संसार के अशुभ राग तथा उनसे बँधाते बुरे कर्मों से बचा जा सकता है । घर बैठे जितनी अनेक प्रकार की वैभाविक चर्चाएँ होती हैं उतनी जिनमन्दिर में नहीं हो सकतीं ।

प्रभु की शान्त मूर्ति के दर्शन से तथा उनके गुणगान में लीन होने से चित्त में दुष्ट भाव तथा बुरे विचार टिक नहीं सकते । इतना ही नहीं परन्तु उन्हें दूर हटाने का एक मुख्य साधन भी प्राप्त हो जाता है । जब तक पूर्ण विशुद्धि प्राप्त न हो, तब तक जीवन को उच्च मार्ग की ओर ले जाने का केवल यही उत्कृष्ट पथ है । जो इस मार्ग में विश्वास नहीं रखते तथा अपने आप को पूर्ण विशुद्ध मानकर समभाव-साधक मानते हैं, उन्हें यह पूछना चाहिए कि यदि तुम वास्तव में राग-द्वेष से परे हो तो तुम अपने गुरु एवं अन्य नेताओं का आदर कर उन पर राग

क्यों करते हो ? उनके आहार, वस्त्र एवं पात्रादि के प्रति सम्मान भाव क्यों रखते हो ? क्या यह राग रहित होने का प्रतीक है ? समभाव में लीन व्यक्ति के लिए सदा सामायिक है, तो गुरु के पास जाकर सामायिक तथा प्रतिक्रमण आदि करने का क्या प्रयोजन है ?

स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओं के संयोग से हर्ष तथा उनके वियोग से शोक; धन, माल, हाट आदि के नाश से संताप तथा उनकी प्राप्ति से हर्ष, वैसे ही किसी दुष्ट व्यक्ति के बुरे वचन कहने पर तथा कष्ट देने पर क्रोध तथा सम्मान देने पर आनन्द, ऐसी बातों से राग-द्वेष तो प्रत्यक्ष प्रकट ही है । उनमें फिर कारण अथवा आलम्बन के बिना समता भाव पैदा करने की बात करना क्या ढोंग नहीं है ? मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा धन, मेरा पुत्र, मेरा नौकर आदि मेरा-तेरा करने का जिनका स्वभाव निर्मूल नहीं हुआ, उनको समदृष्टि वाले कैसे कह सकते हैं ?

जो सम्पत्ति तथा विपत्ति में, शत्रु एवं मित्र में, स्वर्ण और पत्थर में तथा रत्न और तृणसमूह में कोई भी भेद-भाव नहीं रखते, वे ही वास्तव में समभावशाली, आत्मज्ञानी तथा उच्चकोटि के साधक हैं । आज के युग में ऐसे महान् व्यक्ति कितने हैं ? विश्व का बड़ा भाग दुनियादारी की झंझटों में फँसा हुआ है । उनके लिए **'अपने आपको आत्मज्ञानी'** सिद्ध करने का ढोंग रचना तथा उचित कार्य का अनादर करना योग्य नहीं है । बिना योग्यता मिथ्याभिमान रखने से किसी भी स्वार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती । इन्द्रियों तथा मन पर काबू पाये बिना निरालम्बन ध्यान की बातें करने वालों के लिए शास्त्रकार कहते हैं–

'जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना ही शुभ ध्यान रखने की इच्छा करता है, वह मूर्ख जलती हुई आग के अभाव में रसोई पकाना चाहता है, जहाज को छोड़कर अगाध समुद्र को दोनों हाथों से तैरकर पार करने की तथा बीज बोये बिना ही खेत में अनाज उत्पन्न करने की इच्छा करता है ।'

प्रश्न 59 :– मूर्ति तो एकेन्द्रिय पाषाण की होने से प्रथम गुण-स्थानक पर है । उसका चौथे-पाँचवें गुणस्थानक वाले श्रावक तथा छठे-सातवें गुणस्थानक वाले साधु किस प्रकार वंदन-पूजन कर सकते हैं ?

उत्तर :– प्रथम तो मूर्ति को एकेन्द्रिय कहने वाला व्यक्ति जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ ही है । खान में से खोदकर अलग निकाला हुआ पत्थर शस्त्रादि लगने से सचित्त नहीं रहता, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं । अचेतन वस्तु में गुणस्थानक नहीं होता है । अब यदि गुणस्थानक रहित वस्तु को मानने से इन्कार करोगे, तो महादोष के भागी बनोगे क्योंकि सिद्ध भगवान सर्वथा गुणस्थानक रहित हैं, फिर भी श्री अरिहन्तदेव के पश्चात् सबसे प्रथम स्थान पर पूजने योग्य हैं । गुणस्थानक संसारी जीवों के लिए हैं, सिद्धों के लिए नहीं ।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार मूर्ति को गुणस्थानक नहीं है, उसी प्रकार कागज आदि से बनी पुस्तकों का भी अपना कोई गुणस्थानक नहीं है । फिर भी प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने ग्रन्थों का बहुत आदर करते हैं, ऊँचे आसन पर रखते हैं तथा मस्तक पर चढ़ाते हैं । उसकी सभी प्रकार की आशातनाएँ वर्जित हैं । उनको थूक के छीटें या पैर से ठोकर लगाना भी महादोष रूप गिना जाता है । विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं है जो अपने इष्टदेव की वाणी रूप शास्त्र को मस्तक पर नहीं चढ़ाता हो तथा उसका खूब आदर-सम्मान नहीं करता हो ।

श्री जैन सिद्धान्त के **श्री भगवती सूत्र** में भी **'नमो बंभीए लिवीए'** कह कर श्री गणधर भगवन्तों ने अक्षर रूपी ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है तो इसमें कौनसा गुणस्थानक था ? मृतक साधु का शरीर भी अचेतन होने से गुणस्थानक रहित है, फिर भी लोग दूसरे काम छोड़कर उनके दर्शन के लिये दौड़कर जाते हैं, तथा उस मृत देह को बड़ी धूमधाम से चन्दन की चिता में जलते हैं । इस कार्य को गुरु भक्ति का कार्य कहेंगे या नहीं ? यदि इसे गुरु-भक्ति कह सकते हैं, तो प्रतिमा के वन्दन पूजन आदि को जिनभक्ति का कार्य क्यों नहीं कह सकते हैं ?

प्रश्न 60 :– मूर्ति तो पत्थर की है, उसकी पूजा से क्या फल मिलेगा ? मूर्ति के आगे की गई स्तुति, क्या मूर्ति सुन सकती है ?

उत्तर :– लोगों को पथभ्रष्ट करने के लिए इस प्रकार के प्रश्न

मूर्तिपूजा के विरोधीवर्ग की ओर से खड़े करने में आते हैं, परन्तु उसके पीछे घोर अज्ञान एवं कुटिलता छिपी हुई है ।

मूर्तिपूजक लोग यदि पत्थर को ही पूजते होते तो स्तुति भी वे पत्थर की ही करते कि **'हे पत्थर ! हे अमूल्य पत्थर ! तू अनमोल तथा उपयोगी है ।'** तेरी शोभा अपार है । तू विशेष खान में से निकला है । तुझे खान में से निकालने वाले कारीगर बहुत कुशल हैं । हम तेरी स्तुति करते हैं, पर इस प्रकार पत्थर के गुणगान कोई नहीं करता, परन्तु सभी लोग पत्थर की मूर्ति में आरोपित श्री वीतरागदेव की स्तुति करते ही नजर आते हैं । हे निरंजन ! निराकार ! निर्मोह ! निराकांक्ष ! अजर ! अमर ! अकलंक ! सिद्धस्वरूपी ! सर्वज्ञ ! वीतराग ! आदि गुणों द्वारा गुणवान परमात्मा की ही स्तुति करते हैं ।

क्या पत्थर में ये गुण हैं कि जो पत्थर की उपासना का झूठा दोष लगाकर लोगों को गलत दिशा में ले जाने का प्रयास किया जा रहा है ?

जब पूजक व्यक्ति मूर्ति में पूजा योग्य गुणों को आरोपित करता है, तब उसे मूर्ति साक्षात् वीतराग ही प्रतिभासित होती है । वह जिस भाव से मूर्ति को देखता है उसे वह वैसा ही फल देती है । साक्षात् भगवान तरण-तारण हैं, फिर भी उनकी आशातना करने वालों को बुरा फल मिलता है । उसी भाँति मूर्ति भी तारक है, उसकी आशातना करने वाले उसके बुरे फल भोगते हैं ।

शंका–मूर्ति को भगवान कैसे माना जाय / क्या रूकी-सुखी रोटी को मिठाई मान लेने से वह मिठाई बन जाती है ?

समाधान–सन्तोषी तथा शुभ परिणामी जीवों को तो जो सन्तोष मिठाई से प्राप्त हो सकता है, उतना ही सन्तोष रूखी रोटी से भी प्राप्त हो सकता है । दूसरी और असन्तोषी एवं अशुभ परिणामी जीवों को तो मिठाई भी अधिक लाभ नहीं पहुँचाती है तो रूखी रोटी से तो उनका क्या काम बनने वाला है ? द्रष्टान्त का अभिप्राय यह है कि शुभपरिणामी जीव मूर्ति से भी साक्षात् भगवान के दर्शन जैसा ही लाभ उठा सकते हैं,

जबकि दुष्ट परिणामी जीव साक्षात् परमात्मा के दर्शन से भी अशुभ कर्म बाँधते हैं तथा अमृत को भी विष बना देते हैं ।

दो घड़ी पूर्व के सामान्य साधु को आचार्यपद प्रदान करने के साथ ही अन्य साधु तथा श्रावक छत्तीस गुणो का आरोपण कर उनको वन्दन करते हैं तथा किसी भी व्यक्ति के पूर्व में गृहस्थ होते हुए भी दीक्षा लेते ही उसमें साधु के सत्ताईस गुणों का आरोपण कर उनको वन्दन-नमस्कार किया जाता है । जिस प्रकार आरोपित अवस्था में कोई आचार्य तथा साधु, क्रमशः आचार्य तथा साधु के रूप में पूजनीय बन जाता है, उसी प्रकार मूर्ति में भी अंजनशलाका और प्रतिष्ठा हो जाने के बाद उसमें अरिहन्त के समान पूजनीयता उत्पन्न हो जाती है ।

'मूर्ति स्तुति को सुनती है या नहीं ?' यह प्रश्न ही अयोग्य है, क्योंकि पत्थर रूप मूर्ति के गुणगान करने में नहीं आते हैं । जिसकी वह मूर्ति है, उस देव की स्तुति तथा प्रार्थना की जाती है । वह देव ज्ञानी होने के नाते सेवक की स्तुति आदि को पूरी तरह जान सकते हैं । अतः मूर्ति के सामने स्तुति करना भी उचित है ।

प्रश्न 61 :– श्री जिनप्रतिमा को यदि कोई अन्य धर्मावलम्बी अपने मन्दिर में स्थापित करे तो वह वन्दनीय गिनी जाएगी या नहीं ?

उत्तर :– अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई तथा उनके द्वारा देवस्वरूप में स्वीकार की गई श्री जिनमूर्ति को श्रावक नहीं नमेगा क्योंकि वे लोग उस मूर्ति को अपने इष्टदेव के रूप में मान कर अपने मन की विधि के अनुसार उसकी पूजा करेंगे तथा वह विधि जैनों को मान्य नहीं होगी; अतः जहाँ विधिवत् पूजा नहीं होती हो ऐसी अन्यमतावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई जिन-प्रतिमाओं को मानने, पूजने का शास्त्रों में निषेध किया है ।

शास्त्र में ऐसा नियम है कि– **'सम्यग्द्रष्टि से ग्रहण किया हुआ मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत है, तथा मिथ्याद्रष्टि से ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत है ।'** वही नियम श्री जिनमूर्ति को लागू

पड़ता है । अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई प्रतिमाओं में से प्रतिमापन चला नहीं जाता फिर भी अविधिपूजन के कारण तथा अन्य जीवों के मिथ्यात्व की वृद्धि में कारण-भूत होने से सम्यग्दृष्टि आत्माओं ने उन प्रतिमाओं के पूजन को त्याज्य बताया है ।

यहाँ किसी के मन में प्रश्न उठता है कि **'जिनमूर्ति की भाँति साधु यदि मिथ्यात्वी के मठ में उतरे तो वह पूजनीय है या नहीं ?'** तो उसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी के मकान में उतरने मात्र से उसकी साधुता चली नहीं जाती । जब तक अपना लिंग और क्रिया छोड़कर अन्य लिगी अथवा अन्य लिंग की क्रिया करने वाला नहीं हो जाता, तब तक वह साधु, साधु की तरह पूजने योग्य है । श्री जिनप्रतिमाओं के लिये ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा के पूजन की विधि, वे श्री जिनमत के अनुसार नहीं करते पर अपने शास्त्रानुसार करते हैं, ऐसी विपरीत विधि को मान्यता देने से प्रत्यक्ष रूप से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है ।

प्रश्न 62 :– यदि सम्यग्दृष्टि के हाथ में रहने वाले मिथ्यादृष्टि के शास्त्र सम्यक्श्रुत बन जाते हों तो वेद, कुरान, बाइबल आदि सभी धर्मग्रन्थ क्या वन्दनीय नहीं बन जायेंगे ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि के हाथ में रहने वाले नहीं, पर हृदय में रहते हुए शास्त्र, सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये सम्यक्श्रुत बन जाते हैं । यह प्रभाव उन मिथ्यादृष्टि के शास्त्रों का नहीं, पर सम्यग्दृष्टि के विवेकशील हृदय का है । निरपेक्ष वाणी मिथ्या होते हुए भी उसे सापेक्ष रूप से विचार करने वाला उसमें से सम्यक् विचारों को ही ग्रहण करता है ।

श्री नंदीसूत्र में अक्षर को श्रुतज्ञान कहा है जिससे कुरान आदि में अक्षर रूप जो ज्ञान है वह अवश्य वन्दनीय है परन्तु उसका भावार्थ वन्दनीय नहीं है ।

कई जिनवाणी को भावश्रुत कहते हैं तथा अन्य धर्मों के शास्त्रों को द्रव्यश्रुत कहते हैं, पर यह गलत है । **श्री नंदीसूत्र** में श्री जिनवाणी को द्रव्यश्रुत तथा उसके भावार्थ को भावश्रुत कहा है । श्री गणधर

भगवन्तों ने **'नमो सुअदेवयाए'** कहकर, श्री जिनवाणी रूप द्रव्यश्रुत को वन्दन करने का पाठ **श्री भगवती सूत्र** में है तथा उसी सूत्र में **'नमो बंभिलिविए'** कह कर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है ।

श्री जिनवाणी भाषावर्गणा के पुद्गल होने से द्रव्य है तथा ब्राह्मी लिपी भी अक्षर रूप होने से द्रव्य है । इसलिये शास्त्रों में कहे हुए अक्षर द्रव्यश्रुत हैं और वे भी वन्दनीय हैं, तथा मिथ्याशास्त्रों में रहे हुए अक्षर भी द्रव्यश्रुत रूप में वन्दनीय हैं । मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किया हुआ उनका भावार्थ मिथ्या होने से वन्दनीय नहीं है पर सम्यग्दृष्टि से ग्रहण किया हुआ, उनका भावार्थ होने से वन्दनीय है ।

प्रश्न 63 :– प्रभु के नाम को तो स्वीकार कर लें, परन्तु उनकी आकृति को नहीं मानें तो क्या ऐसा चल सकता है ?

उत्तर :– अपने इष्टदेव, गुरु के नाम को मानकर जो उस नाम वाली आकृति को नहीं मानते हैं, वे एक दृष्टि से अपने देव, गुरु का अनादर कर घोर पाप करते हैं । जब दो अक्षर के नाममात्र से देव, गुरु के स्वरूप का बोध होने से कल्याण हो तो उसी के समान आकारवाली प्रतिमा से दुगुना लाभ क्यों नहीं होगा ? समझना तो यह चाहिए कि दुगुना लाभ क्यों नहीं होगा ? समझना तो यह चाहिए कि अकेली आत्मा अरूपी, अविनाशी ही होती है । जिसका नाम है, उसकी आकृति भी होनी ही चाहिए । जिसकी आकृति नहीं होती, ऐसी निराकार वस्तु का नाम भी नहीं होता है । शास्त्रों में अरूपी आकाश का भी आकार माना गया है ।

इससे स्पष्ट होता है कि आकारहीन वस्तु कोई वस्तु नहीं है । नाम एवं आकृति द्वारा गुण का बोध होता है । नाम के साथ आकृति लगी ही होती है । इससे जहाँ तक नाम मानने की आवश्यकता स्वीकृत है, वहाँ तक आकृति मानने की आवश्यकता का भी स्वीकार हो जाता है । आकृति मानने की आवश्यकता तभी छूट सकती है जब नाम मानने की आवश्यकता भी छूट गई हो ।

'नाम गुण का होता है, पर आकार का नहीं', ऐसा कहने वालो को सोचना चाहिए कि गुण से तो श्री ऋषभदेव और वर्धमान

स्वामी समान हैं, फिर श्री वर्धमान स्वामी का नाम लेते ही भगवान ऋषभदेव क्यों याद नहीं आते ? यदि गुण का नाम **'महावीर'** का **'वर्धमान'** होता तो इस गुण वाले सभी व्यक्ति इन नामों के साथ याद आ जाने चाहिये । परन्तु **'महावीर'** अथवा **'वर्धमान'** नाम लेने से केवल भगवान **'महावीर'** याद आते हैं, इसका क्या कारण है ?

इसका कारण एक ही है कि महावीर नाम केवल उनके गुण का ही नहीं पर आकार का भी है । भगवान महावीर का आकार और भगवान ऋषभदेव का आकार एक नहीं है, इसीलिये एक का नाम लेते समय दूसरे याद नहीं आते हैं ।

इससे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नाम में गुण प्रधान नहीं, परन्तु आकार ही प्रधान होता है । इसके उपरान्त भी जो नाम मानकर आकार को मानने से इन्कार करते हैं, वे मूर्ख हैं । जहाँ आकृति नहीं, वहाँ नाम नहीं और जहाँ नाम नहीं, वहाँ आकृति नहीं, इस प्रकार दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है । परन्तु नाम तथा गुण में ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है । परन्तु नाम तथा गुण में ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है । अतः नाम और उसके स्मरण का फल मानने वाले को आकार तथा उसकी भक्ति का फल भी अवश्य मानना चाहिए ।

प्रश्न 64 :– वस्तु की अनुपस्थिति में उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के उपाय को ही क्या आकार कहते हैं ?

उत्तर :– प्रत्येक अनुपस्थित वस्तु का यथार्थ स्वरूप केवल उसके नाम द्वारा नहीं जाना जा सकता परन्तु आकार द्वारा ही जाना जा सकता है । सिंह या बाघ का नाम जानकर कोई जंगल में जाये तो मात्र नाम की जानकारी से वह सिंह या बाघ को नहीं पहचान सकता है । उनकी पहचान के लिए नाम के साथ-साथ आकार का ज्ञान भी आवश्यक है ।

इस कारण अनुपस्थित वस्तु का बोध कराने के लिए अकेला नाम समर्थ नहीं हो सकता । साथ ही आकृति ज्ञात हो, पर नाम मालूम न हो तो उस वस्तु का बोध होना तो सर्वथा अशक्य है । अर्थात् बोधक शक्ति, नाम की अपेक्षा आकार में विशेष रूप से है ।

प्रश्न 65 :– क्या जड़ को चेतन की उपमा दी जा सकती है ?

उत्तर :– वस्तु के धर्म अनन्त हैं । प्रत्येक धर्म के कारण वस्तु को, भिन्न-भिन्न अनन्त उपमाएँ दी जा सकती हैं । एक लकड़ी पर बालक सवारी करता है तब लकड़ी जड़ होते हुए भी उसे चेतन घोड़े की उपमा दी जाती है । पुस्तक अचेतन होते हुए भी उसे ज्ञान या विद्या की उपमा दी जाती है ।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा धर्म, ये आत्मिक वस्तुएँ होते हुए भी, इन्हें कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न की उपमा दी जाती है । वस्तु के अनन्त गुणों में से कोई भी गुण लेकर उसके द्वारा जो-जो कार्य सिद्ध होते हैं उस-उस प्रकार की उपमा देने का व्यवहार विश्वप्रसिद्ध है ।

परमात्मा की मूर्ति से परमात्मा का ज्ञान होता है, इससे उस मूर्ति को भी परमात्मा कहा जा सकता है । पाँच सौ रुपये की हुंडी या नोट को पाँचसो रुपया ही कहते हैं । वास्तविक रीति से देखने पर रुपये तो चाँदी के टुकड़ें हैं व नोट, हुंडी आदि कागज और स्याही स्वरूप हैं, परन्तु दोनों से काम एक समान निकलता है और इसीलिये दोनों को रुपये ही कहा जाता है, वैसे ही परमात्मा की मूर्ति भी परमात्मा का बोध कराने वाली होने से उसे भी परमात्मा की उपमा दी जा सकती है ।

प्रश्न 66 :– आत्मा की उन्नति के लिए पंचेन्द्रिय साधु का आलम्बन स्वीकार करना अच्छा है या एकेन्द्रिय पाषाण की मूर्ति का ?

उत्तर :– पहली बात तो यह है कि मूर्ति अचेतन होने से एकेन्द्रिय नहीं है । साधु का आलम्बन साधु के शरीर के कारण नहीं, किन्तु उस शरीर को आश्रय देकर रहने वाले साधु के उत्तम सत्ताईस गुणों का है । जो ऐसा न हो तो शरीर तो अचेतन है । उसके आलम्बन से क्या लाभ होने का है ? मूर्ति पत्थर की होते हुए भी उसकी पूजा करते समय पाषाण का आलम्बन नहीं लिया जाता, पर जिसकी वह मूर्ति है, उस परमात्मा का तथा उस परमात्मा में रहने वाले अनन्तगुणों का ही आलम्बन लिया जाता है । इस दृष्टि से साधु के आलम्बन से भी

परमात्मा की मूर्ति का आलम्बन चढ़ जाता है, इससे श्री जिनाज्ञानुसार उसको स्वीकार करने वाला, विशेष आत्म कल्याण कर सकता है ।

प्रश्न 67 :– पाषाण की मूर्ति में प्रभु के गुणों का आरोपण किस प्रकार होता है ?

उत्तर :– जिस प्रकार सण आदि हल्की वस्तुओं को स्वच्छ कर उससे सफेद कागज बनाते हैं और उन कागजों पर प्रभु की वाणी रूप शास्त्र लिखे जाते हैं, तब तमाम धर्मों के लोग उन शास्त्रों को भगवान की तरह पूजनीय मानते हैं । उसी तरह खान के पत्थर से मूर्ति बनती है और उस मूर्ति में गुरुजन सूरिमंत्र के जाप द्वारा प्रभु के गुणों का आरोपण करते हैं, तब वह मूर्ति भी प्रभु के समान पूजनीय बन जाती है।

किसी गृहस्थ को दीक्षा देते समय गुरु उसे दीक्षा का मंत्र **(करेमि भंते सूत्र)** सुनाते हैं और शीघ्र ही लोग उसे साधु मानकर वन्दना करते हैं । यद्यपि उस समय उस नवदीक्षित साधु में साधु के सत्ताईस गुण प्रकट हो गये हों, ऐसा कोई नियम नहीं है; फिर भी उस गुणों का उसमें आरोपण कर उसकी वन्दना होती है । वैसे ही मूर्ति भी गुणारोपण के बाद प्रभु समान वन्दनीय बनती है, जिससे लोग उसकी वन्दना-पूजा करते हैं तथा उसको नमस्कारादि करते हैं, यह सर्वथा उचित है ।

प्रश्न 68 :– क्या सदाकाल प्रभुमूर्ति को मानते ही रहना चाहिए ?

उत्तर :– हाँ ! जब तक आत्मा प्रमादी और विस्मरणशील है तब तक उसे प्रभुगुणों के स्मरण हेतु प्रभुमूर्ति को मानना ही चाहिए ।

ज्ञानाभ्यास में विस्मृति के भय से जिन्हें अचेतन पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है, प्रभु का जाप करते समय भूल हो जाने के भय से जिन्हें अचेतन जपमाला का आश्रय लेना पड़ता है, चारित्र के परिणाम से पतित हो जाने के भय से जिन्हें रजोहरण, मुखपट्टिका आदि का आश्रय लेना पड़ता है; सर्दी, गर्मी और वर्षा के भय से जिन्हें अचेतन वस्त्र तथा मकान आदि का सहारा लेना पड़ता है तथा हिंसक-पशु-पक्षी अथवा डाकू आदि के भय से जिन्हें शस्त्र इत्यादि की शरण

खोजनी पड़ती है, उन्हें तब तक प्रभुगुण की स्मृति के लिए अचेतन मूर्ति का आलम्बन लिये बिना छुटकारा नहीं ।

दूसरे सभी अचेतन आलम्बनों को स्वीकार करते हुए भी अचेतन के नाम पर केवल परमात्मा की मूर्ति के आलम्बन को मानने से इन्कार करते हैं; उनके लिए तो परमात्मा के ध्यान की कीमत, सांसारिक वस्तु जितनी भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है ।

पुस्तकादि के आलम्बन बिना ज्ञानाभ्यास में चूक जाने वाले लोग मूर्ति आदि के आलम्बन के अभाव में परमात्म-ध्यान से नहीं चूकेंगे, ऐसा कैसे मान लिया जाय ? परमात्म-ध्यान से हटाने वाली प्रतिपक्षी वस्तुओं के संसर्ग से जो मुक्त नहीं, वे मूर्ति के आलम्बन बिना परमात्मा के ध्यान से जीव के चूक जाने पर उसका कितना नुकसान होता है, यह सर्व सामान्य जगत् के ख्याल में नहीं होता । इसीलिए परमात्म-मूर्ति के आलम्बन के लिए कोई कुतर्क करे तो तुरन्त मन चल-विचल बन जाता है ।

किन्तु शास्त्र कहते हैं कि संसार के अन्य कार्य भूल जाने पर जीव को इतना नुकसान उठाना नही पड़ता जितना परमात्मध्यान से चूक जाने पर । ऐसे अनन्य आलम्बन का इस जगत् में अभाव हो जाय तो जीव आर्त्त-रौद्र ध्यान में चढ़कर अनन्त संसार को बढ़ाने वाला बनता है ।

कोई भी व्यक्ति यदि अपने जीवन भर की कमाई को बिना ताले की तिजोरी में रखे तो कभी-न-कभी चोर उसे लूटे बिना नहीं रहेंगे । वैसे ही आत्मारूपी तिजोरी में एकत्र शुभध्यान रूपी अमूल्य धन को प्रतिमा का आलम्बन रूपी ताला लगाकर सुरक्षित न बनाया जाय तो प्रमाद रूपी चोरों द्वारा उसका नाश हुए बिना नहीं रहता ।

इस प्रकार शुभध्यान रूपी धन का नाश होने पर आत्मा को अनन्त संसार-सागर में भटकना ही पड़ता है । इसलिए जिनप्रतिमा का आलम्बन प्रमादी जीवों के लिए पानी पहले पुल बाँधने के समान अत्यन्त हितकारक है अथवा जिस प्रकार बिना बाड़ के खेत की, किसान कितनी ही रखवाली क्यों न करे, पशु-पक्षी उसमें प्रवेश कर

अनाज का नाश किये बिना नहीं रहते, उसी प्रकार जिन-प्रतिमा के आलम्बन रूपी बाड़ बिना दुर्ध्यान रूपी पशु-पक्षी शुभध्यान रूपी पके हुए धान का नाश किये बिना नहीं रहते ।

आत्मा अनादि काल से पुद्गल के विषय में आसक्त रही हुई है । उसे पुद्गल के संसर्ग की आसक्ति से मुक्त करने वाला शुभालम्बन प्रतिमा के बिना दूसरा कोई नहीं है । उच्च कोटि के शुभालम्बन तथा ज्ञान-ध्यान आदि द्वारा पुद्गल का राग छूट जाने पर, भूख की तृप्ति होते ही जैसे अनाज की तथा रोग की शांति होते ही जैसे दवा की इच्छा समाप्त हो जाती है, वैसे ही सभी प्रकार के आलम्बन स्वतः ही छूट जाते हैं । पर उसके पहले संसार में लिप्त प्राणियों को शुभ आलम्बन छोड़ देना हितकर नहीं है । जिस प्रकार साँप अपने आवरण का त्याग करता है वैसे ही उच्च भूमिका प्राप्त होते ही आलम्बन स्वतः ही छूट जाते हैं ।

प्रश्न 69 :– जड़ प्रतिमा मोक्षदायक कैसे हो सकती है ?

उत्तर :– शास्त्र, जो स्याही और कागज रूप होने के कारण जड़ होते हुए भी **'मोक्ष दिलाने वाले हैं',** ऐसा सभी स्वीकार करते हैं, तो परमेश्वर की मूर्ति भी उसके आराधक को मोक्ष का सुख प्रदान क्यों न करे ? शास्त्र ईश्वरीय वचनों की प्रतिमा है; एवं मूर्ति भगवान के आकार की प्रतिमा है । शब्दों की प्रतिमा से जिस प्रकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार आकार की प्रतिमा से भव्य आत्माओं को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता ही है ।

प्रश्न 70 :– अक्षरों के आकार को देखने मात्र से ज्ञान होता है परन्तु मूर्ति को देखने मात्र से ज्ञान कहाँ होता है ?

उत्तर :– अक्षराकार को देखने मात्र से ज्ञान होने की बात कहना गलत है । इस ज्ञान के पूर्व शिक्षक द्वारा उन अक्षरों को पहिचानना पड़ता है ।

अक्षरों को पहिचानंने के बाद ही पढ़ना या लिखना सीखा जा सकता है । इस प्रकार गुर्वादिक द्वारा– **'यह देवाधिदेव श्री वीतराग की मूर्ति है, इनके अज्ञानादि दोषों का नाश हो चुका है । ये अनन्त गुण**

वाले हैं । ये देवेन्द्रों से भी पूजित हैं, तत्त्वों का उपदेश देने वाले हैं, मोक्ष की प्राप्ति उन्हें हो चुकी है, ये संसार सागर से तिर चुके हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, दया के सागर हैं, परीषह तथा उपसर्गों की सेना को भगाने वाले हैं तथा रागादि से रहित हैं ।' ऐसा ज्ञान जैसे-जैसे होता जाता है, वैसे-वैसे मूर्ति के दर्शनादि करते समय उन गुणों का ज्ञान तथा स्मरण द्रढ़तर बनता जाता है ।

प्रश्न 71 :– मूर्ति के दर्शन से देव का स्मरण होता है, यह बात बराबर है, पर उसकी भक्ति से क्या लाभ ?

उत्तर :– शास्त्र के सुनने अथवा पढ़ने से परमेश्वर के वचनों का बोध होता है, तो भी शास्त्र का उपकार मानने वाले भक्त लोग उसे ऊँचे स्थान पर रखते हैं, पैर नहीं लगने देते, मल-मूत्र वाली अपवित्र जगह से दूर रखते हैं, अच्छे कपड़े में लपेट कर सिंहासन पर रखते हैं तथा उसको वन्दन-नमस्कार करते हैं ।

इस प्रकार शास्त्र की भक्ति करने से शास्त्र के वचनों पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सुद्रढ़ होती है तथा सन्मार्ग पर चलने का बल प्राप्त होता है । इसी तरह प्रतिमा की भी वन्दन-नमस्कार पूजनादि द्वारा भक्ति करने से भगवान पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सतेज होती है तथा गुण प्राप्ति की तरफ आगे बढ़ने के लिए आत्मा में उत्साह आता है । गुणप्राप्ति के उत्साह से शुभध्यान की वृद्धि होती है, शुभध्यान की वृद्धि से कर्म-रज का नाश होता है और ऐसा होने पर मोक्षमार्ग अत्यन्त सुगम हो जाता है ।

प्रश्न 72 :– पत्थर की गाय को दुहने से जैसे दूध प्राप्त नहीं होता है, वैसे पत्थर की मूर्ति पूजने से भी क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर :– पहली बात तो यह है कि यहाँ गाय का द्रष्टान्त देना अनुपयुक्त है । गाय के पास से दूध लेने का होता है, पर मूर्ति के पास से कुछ लेने का नहीं होता । गाय जैसे दूध देती है, वैसे मूर्ति कुछ नहीं देती है । पूजक स्वयं अपनी आत्मा में छिपे हुए वीतरागतादि गुणों को मूर्ति के आलम्बन से प्रकट करता है ।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार पत्थर की गाय दूध नहीं देती वैसी सच्ची गाय भी, हे गाय ! **'तू दूध दे'** ऐसा कहने मात्र से दूध नहीं देती है । तो फिर साक्षात् परमात्मा के नाम से या जाप से भी कार्यसिद्धि नहीं होनी चाहिए और परमात्मा का नाम भी नहीं लेना चाहिए । परन्तु जिस शुभ उद्देश्य से ईश्वर का नामस्मरण किया जाता है, उसी शुभ उद्देश्य से परमात्मा की मूर्ति की उपासना भी कर्त्तव्य बन जाती है । परमात्मा का नाम लेने से जैसे अन्तःकरण की शुद्धि होती ही है ।

इसी तरह कई लोग कहते हैं कि **'जिस प्रकार सिंह की मूर्ति आकर मारती नहीं है',** वैसे ही भगवान की मूर्ति भी आकर तारती नहीं, क्योंकि **'सिंह !'**—ऐसा नाम लेते ही क्या सिंह आकर मारता है ? नहीं । तो फिर भगवान का नाम लेना भी निरर्थक ही ठहरेगा । सिंह की मूर्ति नहीं मारती, इसका कारण यह है कि मारने में सिंह को स्वयं को प्रयत्न करना पड़ता है, मरने वाले को नहीं, जबकि भगवान की मूर्ति द्वारा तिरने में मूर्ति को कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता है, किन्तु तरने वाले को करना पड़ता है ।

मुक्ति की प्राप्ति हेतु व्रत, नियम, तपस्या, संयम आदि की आराधना व्यक्ति को करनी पड़ती है, परमात्मा को नहीं । परमात्मा के प्रयत्न से ही जो तिरने का होता तो परमात्मा तो अनेक शुभ क्रिया कर गये हैं, फिर भी उनसे अन्य क्यों नहीं तिर गये ? परन्तु वैसा होता नहीं है ।

एक के खाने से जैसे दूसरे की भूख नहीं मिटती, वैसे भगवान के प्रयत्न मात्र से भक्तजनों की मुक्ति नहीं हो जाती । उनकी मुक्ति के लिए वे स्वयं ही प्रयत्न करें, तभी सिद्धि होती है । फिर भी भगवान की मूर्ति के आलम्बन से ही जीव को तपनियमादि करने का उल्लास होता है और उसी आधार पर **'भगवान की मूर्ति तारती है',** ऐसा कहने में किसी भी प्रकार की हरकत नहीं है ।

'पत्थर की गाय दूध देती ही नहीं'—ऐसा कहना भी गलत है । गाय के आँचल तथा उसकी दोहन क्रिया से अनभिज्ञ व्यक्ति को इसके

ज्ञान के लिये भी गाय की आवश्यकता होती है और साक्षात् गाय के अभाव में उसकी मूर्ति द्वारा दोहने की उस क्रिया का ज्ञान दिया जा सकता है । इस ज्ञान के अभाव में यदि प्रत्यक्ष रूप में गाय मिल भी जाय तो भी उससे दूध प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है । इस कारण एक अपेक्षा से गाय की मूर्ति ही दूध देने वाली सिद्ध हुई, यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

इसी तरह भगवान के अभाव में भगवान की भक्ति और उनके ध्यान के ज्ञान के लिए भगवान की मूर्ति आवश्यक है । मूर्ति के अभाव में भक्ति एवं ध्यान करने का वास्तविक अनुष्ठान तथा विधि जानना सम्भव नहीं । ध्यान तथा भक्ति बिना मोक्ष प्राप्ति की इच्छा, वन्ध्या के पुत्र की तरह, वन्ध्या ही रहती है । इस तरह पत्थर की गाय जैसे दोहने की क्रिया सिखलाती है, वैसे ही पत्थर की मूर्ति भक्ति-ध्यानादि करना सिखाती है और उसके अनुष्ठान को जीवन में क्रियाशील बनाती है ।

प्रश्न 73 :– परमात्मा के नाम मात्र से ही यदि उनके स्वरूप का बोध हो जाता हो तथा उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती हो तो फिर उनकी प्रतिमा को पूजने का आग्रह किसलिए ?

उत्तर :– प्रतिमा के दर्शन से जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी नाममात्र से कदापि नहीं हो सकती । नाम की अपेक्षा आकार में अधिक विशेषताएँ हैं । जैसा आकार देखने में आता है वैसा ही आकार सम्बन्धी धर्म का चिन्तन मन में होता है ।

सम्पूर्ण शुभ अवयवों की प्रतिमा देखकर, उसी प्रकार का भाव उत्पन्न होता है । कामशास्त्रानुसार स्त्री-पुरुषों के विषयसेवन सम्बन्धी आसन आदि को देखकर देखने वाले कामी व्यक्ति को, तत्काल विकार उत्पन्न होता है । योगासनों की आकृतियों को देखने से योगी पुरुषों के योगाभ्यास में शीघ्र वृद्धि होती है ।

भूगोल के अभ्यासी को नक्शा आदि देखने से वस्तुओं का ज्ञान आसानी से होती है । मकानों के प्लान देखने से उसके जानकार को उन वस्तुओं का तुरन्त ध्यान आता है; केवल नाम से वह सारा ख्याल

नहीं आ सकता । इसी प्रकार परमात्मा के नाम की अपेक्षा परमात्मा के आकार वाली मूर्ति से परमात्मा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट बोध होता है; तथा परमात्मा का ध्यान करने के लिए आसानी पैदा हो जाती है ।

वन्दन-पूजन एवं आदर-सत्कार जिस ढंग से मूर्ति का हो सकता है, उस ढंग से नाम का नहीं हो सकता । मूर्ति की भक्ति में तीनों योग तथा अन्य सभी सामग्रियों की विशेषता ग्रहण की जा सकती है, जबकि नाम-कीर्तनादि में वह सब नहीं हो सकता ।

प्रश्न 74 :– निरालम्बन ध्यान कब तक नहीं हो सकता ?

उत्तर :– श्री जैन शास्त्रों में मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिए चौदह सीढ़ियाँ रूपी चौदह गुणस्थानक वर्णित हैं । उनमें से प्रथम पाँच गुणस्थानक गृहस्थों के लिए हैं और शेष नौ गुणस्थानक साधुओं के लिए हैं । छठे गुणस्थानक का नाम प्रमत्त तथा सातवें का नाम अप्रमत्त है । सम्पूर्ण आयुष्य के काल में, सातवें गुणस्थानक का काल गिना जावे, तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र का ही है ।

सात से ऊपर के गुणस्थानक इस काल में विद्यमान नहीं हैं । मुख्यतया प्रथम छह गुणस्थानक इस काल में विद्यमान हैं । साधु के छठे गुणस्थानक में भी पाँच प्रकार के प्रमाद सम्भव होने से निरालम्बन ध्यान हो ही नहीं सकता । गृहस्थ तो अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थानक तक ही पहुँच सकते हैं । वह तो अवश्य प्रमादी है । प्रमादी व्यक्तियों को निरालम्बन ध्यान के लिए अयोग्य बताया है । श्री गुणस्थानक क्रमारोह में पूज्यपाद श्री रत्नशेखरसूरीश्वरजी महाराजा ने फरमाया है कि–

प्रमाद्यावश्यकत्यागात्, निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ।।1।।

अर्थ – स्वयं प्रमादी होने पर भी जो आत्मा अवश्य करणीय का त्याग करती है तथा निश्चल जैसे निरालम्बन ध्यान का आश्रय करती है, वह विपरीत ज्ञान से मूर्ख बनी आत्मा, श्री सर्वज्ञ भगवान के आगमों को नहीं जानती है ।

इस काल में जीव सातवें गुणस्थानक से ऊँचा नहीं चढ़ सकता है और सातवें गुणस्थानक का समय तो बहुत थोड़ा है: अतः जीव का छठा अथवा इससे उतरता गुणस्थानक होने से निरालम्बन ध्यान सम्भव नहीं है । इस काल के बड़े और समर्थ पुरुष भी जब निरालम्बन ध्यान का मनोरथ मात्र किया करते हैं, तो अल्प शक्ति वाले तथा विषय-वासना में डूबे रहने वाले व्यक्तियों के लिए तो निरालम्बन ध्यान हो ही कैसे सकता है ?

प्रश्न 75 :– कोई विधवा अपने मृत पति की मूर्ति बनाकर पूजा-सेवा करे तो क्या इससे उसकी काम-तृप्ति अथवा पुत्र-प्राप्ति होती है ? नहीं होती तो फिर परमात्मा की मूर्ति से भी क्या लाभ होने वाला है ?

उत्तर :– यह एक कुतर्क है । इसका उत्तर भी उसी प्रकार देना चाहिए । पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्त्री एक आसन पर बैठकर हाथ में माला लेकर पति के नाम का जाप करे तो क्या उस स्त्री की इच्छा पूरी हो जाएगी या उसे सन्तान प्राप्ति हो जाएगी ? नहीं होगी । तो फिर प्रभु के नाम की जपमाला गिनना भी निरर्थक सिद्ध होगा । प्रभु के नाम से कुछ भी लाभ नहीं होता, ऐसा तो कोई नहीं कह सकता । इसके विपरीत उसी विधवा स्त्री को पति का नाम सुनने से जो आनन्द और स्मरण आदि होगा उसकी अपेक्षा दुगुना आनन्द तथा स्मरणादि उसे उसकी मूर्ति अथवा चित्र देखकर होगा । इस तरह नाम की अपेक्षा मूर्ति में विशेष गुण निहित हैं ।

पुनः किसी व्यक्ति ने कभी साँप को नहीं देखा, केवल उसका नाम सुना है । इतने मात्र से उस पुरुष के किसी स्थान पर सर्प देखने पर **'यह सर्प है'** ऐसा ज्ञान होगा ? नहीं होगा । परन्तु सर्प का आकार जिसने जाना होगा, वह सर्प को प्रत्यक्ष रूप में देखते ही उसे पहचान जाएगा ।

इस प्रकार जिस व्यक्ति ने मनुष्य विशेष को देखा नहीं, और न उसकी तस्वीर देखी हैं; केवल उसका नाम सुना है तो वह व्यक्ति

किसी समय उस मनुष्य के निकट से भी निकल जाय तो भी उसे पहचान नहीं सकेगा, परन्तु जिस व्यक्ति ने उसकी तस्वीर देखी होगी, वह शीघ्र उसे पहचान जाएगा कि **'यह वह व्यक्ति है'** इस पर से भी सिद्ध होती है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप पहिचानने के लिए नाम जितना उपयोगी है, उसकी अपेक्षा मूर्ति अथवा आकार अधिक उपयोगी है ।

प्रश्न 76 :– जब कारीगर द्वारा निर्मित मूर्ति पूजनीय है, तो उसका निर्माता कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं ?

उत्तर :– कारीगर प्रतिमा को बनाने वाला है न कि उस व्यक्ति को जिसकी वह प्रतिमा हैं । बीज को धरती में बोया जाता है, खाद डाली जाती है और कृषक के परिश्रम से ही उन बीजों से अन्न उपजाया जाता है । फिर भी अनाज के खाने वाले मिट्टी अथवा खाद आदि खाना पसन्द नहीं करते ।

श्री जिनप्रतिमा बनती है पत्थर आदि से, उसे बनाता है कारीगर, पर उसका स्वरूप तो श्री वीतराग परमात्मा का है । यदि कारीगर श्री वीतराग परमात्मा का ही सर्जक हो तो वह अवश्य पूजनीय है, पर ऐसा तो नहीं है । पतिव्रता स्त्री पति के फोटो का आदर करती है पर फोटोग्राफर का नहीं । शास्त्रों को लिखने वाले प्रतिलिपिकार है, पर क्या वे पूजनीय हैं ? नहीं हैं । क्योंकि शास्त्रों का उद्‌भवस्थान प्रतिलिपिकार नहीं हैं । वे तो केवल नकल करने वाले हैं ।

शास्त्र पूजनीय होने से शास्त्रकार पूजनीय माने जाते हैं, तथा शास्त्रकार पूजनीय होने से उनके द्वारा रचित शास्त्र पूजनीय माने जाते हैं । यह बात बिल्कुल ठीक है । इसी तरह श्री जिनेश्वरदेव पूजनीय होने के कारण उनकी प्रतिमा भी पूजनीय गिनी जाती है, परन्तु प्रतिमा को बनाने वाला कारीगर आनन्द देने वाला व इनाम का पात्र बनता है ।

जो श्री वीतराग परमात्मा की मूर्ति को मानने-पूजने आदि से इन्कार करने के लिए ऐसे कुतर्क उठाते है कि **'जब मूर्ति पूजनीय है तो उसको बनाने वाले कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं ?'** उनसे पूछना चाहिए कि तुम जिन शास्त्रों को पूजनीय मानते हो, उनकी

नकल करने वाले प्रतिलिपिकार अथवा मुद्रण करने वालों को शास्त्रों से अधिक पूजनीय मानते हो क्या ? साधु-महात्माओं के वस्त्रादि उपकरणों को तुम बहुत आदरणीय मानते हो परन्तु उनको बनाने वाले बुनकर तथा कारीगर आदि को इनसे भी बढ़कर आदरणीय मानते हो क्या ? यदि नहीं तो श्री जिनमूर्ति के सम्बन्ध में ही ऐसे कुतर्क क्यों ? श्री जिनमूर्ति की पूजनीयता श्री जिनेश्वरदेव के गुणों के फलस्वरूप ही है, इस बात को समझने वाले व्यक्ति तो कभी ऐसे बुरे विचारों में नहीं फँसेंगे ।

प्रश्न 77 :– प्रतिमा निर्जीव है तो उसकी पूजा क्यों होती है ?

उत्तर :– जो द्रव्य पूजनीय है, तो वह सजीव हो या अजीव, वह पूजनीय है ही । दक्षिणावर्त शंख, कामकुम्भ, चिन्तामणि रत्न, चित्राबेल आदि पदार्थ अजीव तथा जड़ होने पर भी विश्व में पूजे जाते हैं और उनके पूजने वालों को मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है । जैसे ये निर्जीव वस्तुएँ अपने स्वभाव से पूजक का हित करती हैं, वैसे ही श्री जिन प्रतिमा भी पूजक आत्माओं को स्वभाव से ही शुभ फल देती है ।

प्रश्न 78 :– जिन प्रतिमा तो साधारण कींमत में बिकती है, तो फिर उसे भगवान कैसे माना जाय ?

उत्तर :– भगवान की वाणीस्वरूप श्री आचारांग, श्री भगवती आदि पुस्तकें थोड़ी कींमत में बिकती हैं, तो फिर उन्हें भी पूजनीय कैसे माना जा सकता है ? पुस्तकों द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है अतः वे पूजनीय हैं, प्रतिमा द्वारा भव्यात्माओं को परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है अतः वह इससे भी अधिक पूजनीय है ।

शास्त्र जो कि कागज पर स्याही से लिखे हुए हैं, उनको भी स्वयं गणधर महर्षियों ने **'भगवान'** कहकर वन्दन-नमस्कार किया है तो प्रतिमा वन्दन-नमस्कार योग्य हो, इसमें शंका ही क्या है ? शास्त्रों में कहा है कि–

'नमो बंभीलिविए' ब्राह्मीलिपि को नमस्कार हो !

'आयरस्सणं भगवओ भगवान श्री आचारांग' इत्यादि सुलभ और सस्ती वस्तुएँ भी कई बार बड़े व्यक्तियों के स्वीकार करने पर दुर्लभ तथा कीमती बन जाती हैं । ठीक वैसे ही अल्प मूल्य में मिलने वाली प्रतिमाएँ भी अंजनशलाका तथा प्रतिष्ठा आदि शुभ क्रियाओं के द्वारा अमूल्य एवं परम पूजनीय बनती हैं । राज्याभिषेक होने पर जैसे साधारण व्यक्ति भी राजा गिना जाता है तथा विवाहोत्सव के बाद साधारण घर की कन्या भी राजरानी अथवा बड़े घर की सेठानी गिनी जाती है, वैसे ही अल्प मूल्य में मिलने वाली प्रतिमाएँ भी श्री संघ द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठा होने पर, साक्षात् परमात्मा के समान पूजनीय बनती है ।

प्रश्न 79 :– मूर्ति परमात्मा तुल्य हो तो उसे स्त्री का स्पर्श क्यों ? उसे ताले में क्यों रखा जाता है ?

उत्तर :– स्त्री के स्पर्श का दोष, भाव अरिहन्त को लेकर है । प्रतिमा तो श्री अरिहन्तदेव की स्थापना है । स्थापना अरिहन्त को स्त्री के स्पर्श से कोई दोष नहीं लगता । यदि कोई स्थापना अरिहन्त तथा भाव अरिहन्त दोनों में एक समान दोषों का आरोपण करना चाहता हो तो वह सम्भव नहीं है ।

सूत्रों में सोना-चांदी तथा स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक आदि अनेक वस्तुओं के नाम लिखे होते हैं । वे सभी उन-उन नामों के अक्षरों की स्थापना है । उनमें चित्र भी होते हैं । यदि स्थापना और भाव में समान दोष लगने की कल्पना की जाय तो उनको हाथ में लेने से साधु-साध्वी के महाव्रत समाप्त हो जाने चाहिए, पर ऐसा नहीं होता ।

शास्त्र तो सभी मुनिगण हाथ में लेकर पढ़ते हैं । उसमें देवलोक के देव-देवियों के चित्र तथा नारकियों के चित्र आदि का सभी स्पर्श करते हैं । वर्तमान पत्रों एवं पुस्तकों में स्त्री-पुरुषों के चित्र पत्ते-पत्ते पर भरे होते हैं, उनका ब्रह्मचारी, मुनिवर आदि भी स्पर्श करते हैं । तो क्या सबके शीलव्रत कायम रहते हैं या भंग हो जाते हैं ? चित्रों आदि के स्पर्श से यदि शीलव्रत नष्ट हो जाता हो तो जगत् में शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालने वाला कोई मिलेगा ही नहीं । अतः जैसे चित्र, पुरुषादि की स्थापना हैं

और इनका स्पर्श होने से ब्रह्मचारी को दोष नहीं लगता वैसे ही मूर्ति, श्री अरिहन्त देव की स्थापना है, उसे स्त्री आदि का स्पर्श होने से किस प्रकार दोष लग सकता है ?

साधु हरी वनस्पति को हाथ नहीं लगाते हैं, फिर भी ग्रन्थों अथवा पुस्तकों में स्थान-स्थान पर झाड़ी या वनस्पतियों के चित्र आते हैं तो उनका स्पर्श करने से क्या वनस्पति के स्पर्श का दोष लगता है ? नहीं लगता ।

इससे सिद्ध होता है कि भाव अरिहन्त तथा स्थापना अरिहन्त में एक समान दोष आरोपित नहीं हो सकते । ऐसा करने पर महा अनर्थ हो जाता है ।

दूसरी बात है—ताले चाबी की, भगवान की स्थापना होने के कारण प्रतिमाजी की रक्षा हेतु मन्दिरों को ताला लगाया जाता है । इससे तो उलटी भक्ति होती है, दोष नहीं लगता तथा भक्ति का परम फल मोक्ष है ।

जैसे भगवान की वाणी की स्थापना रखने वाले सूत्रों की रक्षा के लिए उन्हें उत्तम वस्त्रों में लपेट कर अलमारी में रखकर ताला लगाया जाता है तथा साधु-साध्वियों के चित्रों को सुन्दर फ्रेम में मढ़वा कर भव्य दीवानखानों में टांगा जाता है वैसे ही भगवान की प्रतिमाओं की रक्षा के लिए श्री जिन मंदिर तथा उसके गर्भद्वार पर ताला लगाया जावे या रक्षा हेतु कोई अन्य प्रबन्ध किया जावे तो इसमें क्या दोष है ? यदि ऐसा नहीं किया जावे तो दुष्ट लोग आशातना आदि करते हैं और उसका दोष रक्षा नहीं करने वाले को लगता है ।

प्रश्न 80 :— क्या मूर्ति में वीतराग के गुण हैं ?

उत्तर :— एक अपेक्षा से हैं तथा एक अपेक्षा से नहीं भी हैं । पूजक व्यक्ति उसमें वीतराग भाव का आरोपण कर पूजा करता है, तब वह मूर्ति वीतराग समान ही बनती है तथा वीतराग की भक्ति जितना ही फल देती है । इस दृष्टि से श्री जिनमूर्ति श्री जिनवर के समान है । दुष्ट परिणाम वाले व्यक्ति को मूर्ति के दर्शन से कोई लाभ नहीं होता, परन्तु इसके विपरीत अशुभ परिणाम से कर्मबन्धन होता है । इसके बजाय हम

यह कह सकते हैं कि मूर्ति वीतराग के समान नहीं है पर इससे इसकी तारक शक्ति चली नहीं जाती । शक्कर मीठी होते हुए भी गधे को नहीं रुचती है, बल्कि नुकसान करती है, पर इससे शक्कर का स्वाद नष्ट नहीं होता । वैसे ही मूर्ति भी मिथ्यादृष्टि जीवों को रुचिकर नहीं होती, पर इससे उसकी मोक्षदायकता चली नहीं जाती ।

प्रश्न 81 :– मूर्ति यदि जिनराज तुल्य है तो इस पंचम आरे में तीर्थंकर का विरह क्यों कहा गया है ?

उत्तर :– भरतक्षेत्र में पंचम आरे में तीर्थंकर का विरह बताया है । यह भाव तीर्थंकर की अपेक्षा से कहा गया है न कि स्थापना अरिहन्त की अपेक्षा से । किसी गाँव में साधु न हो पर उनकी तस्वीर हो तो भी ऐसा कहा जाता है कि, **'इस गाँव में आजकल कोई साधु नहीं विचरते'** तो वह विरह भाव साधु का ही समझा जाता है । कोई ऐसा नहीं मानता कि **'इस गाँव में साधु की तस्वीर का भी अभाव है ।'**

प्रश्न 82 :– एक क्षेत्र में दो तीर्थंकर नहीं होते हैं, पर एक ही भवन में अनेक मूर्तियों को क्यों एकत्र किया जाता है ?

उत्तर :– यह विषय भी स्थापना सम्बन्धी है और जो निषेध है वह भाव अरिहन्त के सम्बन्ध में है । जैसे सभी तीर्थंकर सिद्धगति को प्राप्त होते हैं तब अनन्ती चौबीसी के तीर्थंकर एक ही क्षेत्र (द्रव्य-निक्षेप से) में रहते हैं वैसे (स्थापना-निक्षेप से) एक ही मंदिर में ऐक सौ आठ अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओं के रहने में कोई बाधा नहीं है ।

स्थापना को भी एक साथ रखने में यदि कोई बाधा होती तो श्री जम्बूद्वीप में सैकड़ों पर्वत, नदी, गुफाएँ आदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं, पर इनको एक ही नक्शे में एकत्र कर लोगों को कैसे समझाया जाता है ? सूत्रों में सभी तीर्थंकरों के नाम की स्थापना जैसे एक ही कागज पर की जाती है तथा नाम अरिहन्त एवं द्रव्य अरिहन्त को भी एक साथ रहने में जैसे कोई बाधा नहीं आती है । जो बाधा है वह भाव अरिहन्त को ध्यान में रखकर बताई गई है ।

प्रश्न 83 :– क्या गुरु का चित्र देखकर शिष्य एवं पिता का

चित्र देखकर पुत्र खड़ा होगा ? आदर देगा ? श्वसुर की तस्वीर देखकर पुत्रवधु घूंघट निकालेगी ? यदि नहीं तो फिर मूर्ति को मानने का आग्रह किस लिए ?

उत्तर :– शिष्य अपने गुरु की तथा पुत्र अपने पिता की तस्वीर का आदर नहीं करेगा तो क्या अपमान करेगा ? अथवा कोई शत्रु यदि उन तस्वीरों के मुख पर काजल पोतना चाहेगा तो क्या वे ऐसा करने देंगे ? क्या वे इसको सहन करेंगे ? अथवा तस्वीरों को केवल कागज तथा स्याही का रूप मानकर रास्ते में लोगों के पैरों तले कुचलने के लिए फेंक देंगे । ऐसे कार्य किसी ने किये नहीं और यदि कोई करता है तो वह विचारकों की दृष्टि में कपूत एवं हँसी का पात्र गिना जायेगा । इस प्रकार का आचरण साक्षात् गुरु और साक्षात् पिता का अपमान करने के तुल्य ही गिना जाता है । इसके विपरीत उन चित्रों को अच्छी फ्रेम में लगाकर मेज या सिहासन पर ऊँचे स्थान पर रखें अथवा दीवार पर स्वच्छता से लगावें तो इसे गुरु अथवा पिता का आदर करना ही माना जायेगा तथा इसे देखकर अपने गुरु अथवा पिता की याद आये बिना भी नहीं रहेगी ।

दूसरी बात–शिष्य अथवा पुत्र, गुरु अथवा पिता के नाम का आदर करे या नहीं ? यदि करता है, तो नाम की अपेक्षा चित्र से तो विशेष याद आती है, ऐसी दशा में उसे उसका विशेष विनय आदि करना चाहिए ।

साथ ही यह तर्क भी व्यर्थ है कि पुत्रवधू श्वसुर की तस्वीर को देखकर घूंघट नहीं निकालती । जैसे तस्वीर देखकर शर्म नहीं करती वैसे ही नाम सुनकर भी घूंघट नहीं निकालती है तो फिर परमात्मा का नाम भी निरर्थक ही समझना चाहिए । इसके विपरीत श्वसुर को पहले नहीं देखा हो तो उसका चित्र देखकर बहू को इस बात का ज्ञान होगा कि–**'ये मेरे श्वसुर हैं ।'** वैसे ही जिन्होंने भगवान को नहीं देखा है वे मूर्ति से पहचान जायेंगे कि ये भगवान हैं ।

श्वसुर की पहचान होते ही बहू को घूंघट निकालने की शंका नहीं

रहती, जिससे लाज करने-न-करने का कार्य सुगम हो जाता है । वह श्वसुर को पहचान कर तुरन्त घूंघट निकालती है तथा दूसरों को देखकर नहीं निकलती । वैसे ही मूर्ति द्वारा प्रभु की पहचान होने पर असेव्य के परित्याग का तथा सेव्य की सेवाभक्ति करने का कार्य सुगम बन जाता है और किसी भी प्रकार के भ्रमजाल में पड़ने का भय नहीं रहता । मूर्ति का यह भी एक महान् उपकार है ।

प्रश्न 84 :– भगवान की मूर्ति ही यदि भगवान है तो पापी चोर उनके आभूषण कैसे चुरा कर ले जाते हैं ? लोग उनकी हजारों की रकम कैसे हजम कर जाते हैं ? उनकी मूर्ति को दुष्ट कैसे खण्डित कर जाते हैं ? और यदि भगवान सर्वज्ञ हैं तो उनकी मूर्ति को धरती से खोदकर क्यों निकालनी पड़ती है ? शासनदेव यह कार्य क्यों नहीं करते ?

उत्तर :– यह प्रश्न ही मूर्खतापूर्ण है । श्री वीतराग के गुणों का आरोपण कर भक्ति के लिए जड़ वस्तु से बनी मूर्ति जमीन में से अपने आप क्यों नहीं निकलती अथवा उसके अलंकार आदि को चोरी करते हुए पापी लोगों को शासनदेवता क्यों नहीं रोकते ? इसका उत्तर यह है कि जड़ स्थापना में यह शक्ति कहाँ से आवे ? तथा शासनदेव प्रत्येक प्रसंग पर आकर उपस्थित हो जावें, ऐसा नियम कहाँ है ?

भगवान श्री महावीरदेव के जीवनकाल में उनकी सेवा में लाखों देव उपस्थित रहते थे, फिर भी मंखलि पुत्र गोशाला ने भगवान पर तेजोलेश्या फेंकी और उससे उन्हें खून के दस्त की व्याधि हुई । उस समय शासनदेवों ने कुछ नहीं किया, इससे क्या उनकी भक्ति में अन्तर आ गया ? कितने ही भाव ऐसे होते हैं कि जिनको देवता भी नहीं बदल सकते । जिस समय जो होना है वह किसी काल में भी मिथ्या नहीं होता । स्वयं श्री तीर्थंकर महाराजा से दीक्षा ग्रहण करके अनेक स्त्री-पुरुष उनके विरोधी हुए हैं, अनेक प्रकार के पाखंडी मत उन्होंने स्थापित किये हैं तथा भगवान की निन्दा की है, तो क्या सर्वज्ञ भगवान इस बात को नहीं जानते थे कि ये पाखण्डी चारित्र की विराधना करेंगे और

मिथ्यात्व का प्रचार करेंगे ? सब कुछ जानते थे तो फिर उन्हें दीक्षा क्यों दी ? केवल इसलिए कि ऐसे भाविभाव आदि को भी ये तारक जानते थे ।

वर्तमान में श्री वीतराग का धर्म अति अल्प प्रमाण में रह गया है । उसमें भी अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न शाखाएँ पड़ी हैं तथा चलनी की तरह छेद हो गये हैं । मिथ्यात्व एवं दुराग्रह के अधीन व्यक्ति उत्सूत्र भाषण करने में कुछ बाकी नहीं रखते । तब फिर ऐसे निन्दक तथा प्रतिक्रियावादियों को रोककर शासन देव सत्यमार्ग का उपदेश क्यों नहीं देते ? लोगों को महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमन्धर स्वामी के पास ले जाकर उनके दर्शन कराकर शुद्ध धर्म का प्रतिबोध क्यों नहीं करवाते ? अतः देवताओं के हाथों से भी जो-जो चमत्कारी कार्य होने लिखे होते हैं, वे ही होते हैं, उनसे अधिक नहीं, ऐसा मानना चाहिए ।

अभी हाल में भी बहुत सी मूर्तियाँ, जैसे कि श्री भोयणीजी में श्री मल्लिनाथ भगवान तथा श्री पानसर में श्री महावीर स्वामी भगवान आदि के लिए शासनदेव स्वप्न में आकर अनेक प्रकार के चमत्कार बताते हैं । असंख्य वर्षों से मूर्तियों की रक्षा भी करते हैं । इसके अतिरिक्त कई उपसर्गादि का निवारण भी करते हैं और बहुतों का नहीं भी करते हैं, क्योंकि हर बार शासनदेव सहायता करें, ऐसा नियम नहीं है ।

आज के युग में कई मूर्ख लोग श्री जिनमन्दिर में चोरी आदि करने का दुष्ट कर्म करते हैं तो उसका फल वे अवश्य भुगतेंगे । इससे शासनदेवताओं को कलंक नहीं लगता अथवा इससे स्थापना अरिहन्त की महिमा भी नहीं घटती । अरिहन्त की महिमा तो तभी कम हो सकती है, जबकि स्थापना अरिहन्त के भक्तों को इस भक्ति से वीतराग परमात्मा के गुणों आदि का स्मरण न होता हो उनको वीतराग भाव, देशविरति अथवा सर्वविरति के परिणाम, संयम और तप की ओर वीर्योल्लास, भवभ्रमण का निवारण अथवा मोक्षसुख की निकटता आदि न होती हो । इन सभी लाभों से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता ।

प्रश्न 85 :– निरंजन निराकार की मूर्ति किस प्रकार बन सकती है ?

उत्तर :– तमाम मतों के देव तथा शास्त्रों के रचयिता निराकार नहीं हुए, साकार ही हुए हैं । देहधारी के सिवाय कोई भी शास्त्रों की रचना नहीं कर सकता और न मोक्षमार्ग ही बता सकता है । सभी शास्त्र अक्षर स्वरूप हैं । अक्षरों का समूह तालु, ओष्ठ, दाँत आदि स्थानों से उत्पन्न होता है और वे स्थान देहधारी को ही होते हैं और इसीलिए ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की मूर्ति अवश्य हो सकती है ।

मोक्षमार्ग होने के पश्चात् वे अवश्य निराकार बन जाते हैं, फिर भी उनकी पहिचान के लिए मूर्ति की आवश्यकता रहती है । जिस प्रकार शास्त्रों के रचने वाले देहधारियों के मुख से निकले हुए अक्षरों के समूह किसी विशेष आकार के नहीं होते हैं; यद्यपि उनके आकार की कल्पना करके, उनको शास्त्रों के कागजों पर अंकित किया गया है और इसी से उनका बोध होता है । वैसे ही निराकार सिद्ध भगवान का आकार भी इस दुनिया में, उनके अन्तिम भव के अनुसार कल्पना करके मूर्ति रूप में उतारा जाता है । इससे निराकार सिद्ध भगवान का स्वरूप भी समझा जा सकता है तथा साक्षात् सिद्ध के रूप में उनका ध्यान करने वालों की सभी मनोकामनाएँ भी पूर्ण होती हैं ।

ऐसा एक नियम है कि किसी भी निराकार वस्तु का परिचय कराना हो तो उसे साकार बनाकर ही किया जा सकता है । इसके लिए प्रसिद्ध दृष्टान्त सभी प्रकार की लिपियों का है । अपने मन के आशय को दूसरे के शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है और ये शब्द जिन वर्णों के बने होते हैं उन वर्णो को भिन्न-भिन्न आकार देने से ही उनके अर्थ का स्पष्ट ज्ञान कराया जाता है । वर्णों को क, ख, ग, घ अथवा A, B, C, D आकार नहीं दिया जावे तथा सबकी आकृति एक समान कर दी जाय तो किसी को भी बोध हो सकता है क्या ? नहीं । इसलिये निराकार वस्तु का स्पष्ट बोध उसे आकार प्रदान किये बिना नहीं कराया जा सकता ।

प्रश्न 86 :– इस युग में बुद्धिजीवी लोग मूर्ति को नहीं मानते हैं, केवल जड़ लोग ही मानते हैं, क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर :– यह बात सर्वथा असत्य है । किसी भी काल के बुद्धिमान् लोगों का कार्य मूर्ति को माने सिवाय चलता ही नहीं । कोई प्रत्यक्ष रूप से मानते हैं और कोई परोक्ष रूप से । सभी अपने-अपने धर्मोपदेशकों को मानते हैं । वे देहधारी होते हैं और इसलिए उनका आकार भी होता है । अपने मत के उपदेशक को पहचानने के लिए उनके देहाकार का उपयोग किये बिना क्या उनका काम चलता है ? नहीं चलता ।

यूरोप, अमेरिका, एशिया तथा अफ्रीका आदि भिन्न-भिन्न खण्डों तथा उनमें बसे विभिन्न नगरों, नदियों, पर्वतों आदि का ज्ञान देने के लिए प्रत्येक मनुष्य को उन-उन देशों के नक्शों आदि का आलम्बन लेना ही पड़ता है । किसी भी नए घर, हाट, हवेली, दुकान, महल अथवा गढ़ को बनाते समय उसके पूर्व उसका प्लान तैयार करना ही पड़ता है । यह मूर्ति नहीं तो और क्या है ?

प्रत्येक देश के बुद्धिमान् लोगों को इन आकारों का आश्रय लेना ही पड़ता है, फिर भी केवल देवमूर्ति सम्बन्धी बाधा उठाने में आती है, यह केवल अज्ञानता अथवा धर्मद्वेष का ही परिणाम है । हम देख आये हैं कि सम्पूर्ण ज्ञान निराकार श्रुत है और वह केवल उसके अक्षरों की आकृति से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रत्येक धर्मानुयायी शास्त्र तथा माला को तो मानते ही हैं । जैसे वचन की स्थापना शास्त्र है वैसे माला भी अपनी-अपनी मानी हुई इष्ट वस्तुओं की अथवा उनके गुणों की स्थापना ही है । अन्यथा संख्याविशेष मणकों की ही माला होनी चाहिए, ऐसा नियम नहीं हो सकता ।

प्रत्येक मत वाले अपने इष्टदेव को पूजने हेतु किसी-न-किसी प्रकार के आकार को मानते ही हैं, अब इस बात को दूसरे ढंग से स्पष्ट करें ।

ईसाइयों में रोमन केथोलिक ईसा की मूर्ति को मानते हैं । प्रोटेस्टेन्ट ईसा की स्मृति तथा उन पर की श्रद्धा को जीवित रखने के लिए उनको दो हुई सूली के निशान क्रोस (+) को हमेशा अपने पास रखते हैं । ज्ञान की स्थापना रूप बाइबल का आदर करते हैं, अपने

पूज्य पादरियों के चित्र अपने पास रखते हैं तथा उनकी प्रतिमाओं, पुतलों तथा कब्रों का बड़ा आदर करते हैं ।

मुसलमान नमाज के समय पश्चिम में **'काबा'** की तरफ मुँह रखते हैं । क्या खुदा पश्चिम के सिवाय अन्य दिशा में नहीं ? तो फिर पश्चिम में मुँह रखने की क्या जरूरत ? काबा की यात्रा पश्चिम दिशा में होती है इसलिए पश्चिम की ओर नजर रखी जाती है । तब फिर इसे भी खुदा की स्थापना ही माना जाय । मक्का मदीना हज करने जाते है तथा वहाँ काले पत्थर का चुम्बन करते हैं, टेढ़े होकर नमन करते हैं, प्रदक्षिणा देते हैं और उस तरफ दृष्टि स्थिर रखकर नमाज पढ़ते हैं । उसकी यात्रा के लिए हजारों रुपये खर्च करते हैं । उस पत्थर को पापनाशक मानकर उसका खूब सम्मान करते हैं ।

जब अनघड़ पत्थर भी ईश्वर तुल्य सम्मान के योग्य है तथा उसके सम्मान से पापों का नाश होता है तो परमात्मा के साक्षात् स्वरूप की बोधक प्रतिमाएँ ईश्वर तुल्य क्यों नहीं ? उनका आदर, सम्मान व भक्ति करने वालों के पापों का नाश क्यों नहीं होगा ? क्या परमेश्वर सर्वत्र नहीं है कि जिससे मक्का मदीना जाना पड़ता है । अतः मानना पड़ेगा कि मन की स्थिरता के लिए मूर्ति के रूप में अथवा अन्य किसी रूप में स्थापना को मानने की आवश्यकता होती ही है ।

मुस्लिम ताबूत (ताजिया) बनाते हैं, वह भी स्थापना ही है, उसे लोभान का धूप कर पुष्प-हार आदि चढ़ाकर अच्छे ढंग से उसका आदर करते हैं । शुक्रवार को शुभ दिन मानकर सामान्य मस्जिद में तथा ईद के दिन बड़ी मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ते हैं । वे मस्जिदें भी स्थापना ही हैं । कुरान शरीफ को खुदा का वचन मानकर सिर पर चढ़ाते हैं, वह भी स्थापना ही है । औलिया, फकीर, मीरां साहब, ख्वाजा साहब आदि दरगाहों की यात्रा करते हैं तथा वहाँ स्थिर मजारों पर पुष्पहार, मेवा, मिठाई आदि चढ़ाकर वन्दन-पूजन आदि करते हैं तो वह भी स्थापनातुल्य नहीं तो और क्या है ? मस्जिदों, मक्कामदीना, फकीरोह आदि की तस्वीर खिंचवाकर अपने पास रखते हैं, वह भी स्थापना ही है ।

इस प्रकार कई प्रकार से मुसलमान भी अपनी मानी हुई पूज्य वस्तुओं की मूर्ति को एक समान मान देते हैं ।

पारसी लोग अग्नि को मानते हैं और यह भी एक प्रकार की स्व–इष्ट देव की स्थापना ही है ।

नानकपंथी गुरु नानक के पश्चात् उनकी गद्दी पर बैठने वाले जितने भी गद्दीपति हुए उन सबकी लिखी पुस्तकों को परमेश्वर तुल्य मान कर भक्ति करते हैं । ग्रन्थ को विराजमान करते समय बड़े-बड़े जुलूस निकालते हैं, सुसज्जित भवनों में ऊँचे आसन पर रखकर उनके समक्ष नाट्य आदि करते हैं तथा उनका रात-दिन गुणगान करते हैं । पुस्तकें भी अक्षरों की स्थापना ही हैं ।

कबीरपंथी कबीर की गद्दी को पूजते हैं । कोई उनकी पादुकाओं को पूजता है और सभी उनकी रचित पुस्तकों को सिर पर चढ़ाते हैं ।

दादूपंथी दादूजी की स्थापना तथा उनकी वाणी रूप ग्रन्थ को पूजते हैं । समाधि-स्थल बनवाकर उसमें गुरु के चरणों को प्रतिष्ठित करते हैं और उनकी पूजा करते हैं ।

वेदों में भी मूर्तिपूजा के अनेक पाठ हैं । अतः आर्यसमाजियों का मूर्ति का खण्डन करना सर्वथा अनुचित है । उनके स्वामी दयानन्द शरीरधारी मूर्तिमय थे, वेद-शास्त्रों की अक्षर रूप में स्थापना को वे मानते थे तथा स्वरचित सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों में अपनी वाणी की आकृतियों द्वारा ही बोध करते तथा करवाते थे । इन आकृतियों का आश्रय यदि नहीं लिया होता तो किस तरह अपने मत की स्थापना कर सकते थे ?

जिस मूर्ति अथवा आकृति का आश्रय लेकर अपना काम निकाला उसी मूर्ति का अनादर करना बुद्धिमानी का काम नहीं है । दयानन्द यदि मूर्ति को नहीं मानते होते तो अपने सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ में अग्निहोत्र समझाने के लिये थाली, चम्मच आदि के चित्र खींचकर अपने भक्तवर्ग को समझाने का प्रयत्न क्यों करते ?

जो बात एक साधारण चित्रकार भी समझ सकता है, उसे समझने के लिए उनके विद्वान् कहलाने वाले शिष्य भी क्या असमर्थ थे ? तो फिर महान् ईश्वर तथा उसका स्वरूप, ईश्वर की मूर्ति बिना वे किस प्रकार समझ सकते थे ? स्वामीजी की तस्वीर उनके भक्तों द्वारा स्थान-स्थान पर रखने में आती है । यदि ऐसे संसारस्थित व्यक्ति की भी तस्वीर के रूप में रहने वाली मूर्ति के दर्शन से स्वार्थ साधा जा सकता है, ऐसा मानते हो तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा गुरु के भी गुरु ऐसे परमेश्वर की मूर्ति के दर्शन आदि से स्व-इष्ट नहीं साधा जा सके, ऐसा कैसे माना जा सकता है ?

आर्यसमाजवाले भी अग्नि को पूजते हैं । उसमें घी आदि डालकर होम करते हैं तो क्या वह अग्नि उनकी दृष्टि में जड़ नहीं है ? सूर्य के सामने खड़े रहकर **'ईश्वर-प्रार्थना'** करते हैं तो वह सूर्य आदि क्या जड़ नहीं है ? तब फिर परमेश्वर की मूर्ति से दूर क्यों भागते हैं ? मूर्ति कृत्रिम है और सूर्य, अग्नि आदि कृत्रिम नहीं, ऐसा कहते हो तो उनके गुरुओं का वेश कृत्रिम है या अकृत्रिम ? शास्त्र कृत्रिम हैं या अकृत्रिम ? उनको आदर कैसे देते हो ? अतः जो वस्तु पूजनीय है वह चाहे कृत्रिम हो या अकृत्रिम उसको पूजना हो चाहिए, ऐसी सबके अन्तःकरण की पुकार है ।

इस प्रकार प्रत्येक पंथ के अनुयायी अपनी-अपनी पूजनीय वस्तुओं के आकार की किसी-न-किसी ढंग से पूजा करते ही हैं । इससे प्रतीत होता है कि मूर्तिपूजा बालक से लगाकर पण्डित तक सभी को मान्य है ।

प्रश्न 87 :– गुरु साक्षात् रूप में उपदेश देते हैं वैसे मूर्ति कभी उपदेश नहीं देने वाली नहीं तो फिर साक्षात् गुरु को छोड़कर जड़ मूर्ति की उपासना करने से क्या लाभ ?

उत्तर :– सबसे पहले यह समझना चाहिए कि गुरु भी उपदेश किसको दे सकते हैं ? जो शून्य हृदय वाले हैं, उन्हें गुरु भी उपदेश कैसे दे सकते हैं ? गुरु का उपदेश समझने के लिए जैसे पहले

शास्त्राभ्यास करना पड़ता है तथा समझने की शक्ति प्राप्त करनी पड़ती है और बाद में ही वह समझा जाता है, वैसे ही मूर्तिपूजा के लिए भी जिसकी मूर्ति की पूजा करनी हो उसके गुणों का स्वरूप समझकर फिर उसकी पूजा की जाय तो लाभ क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा।

फिर–**'गुरु उपदेश देते हैं व मूर्ति उपदेश नहीं देती'**–इस कारण ही यदि गुरु पूजनीय हों और मूर्ति पूजनीय न हो तो स्वर्गवासी सभी गुरु अपूजनीय ही बनेंगे, क्योंकि वे उपदेश तो देते नहीं है। तो फिर उनको भी हाथ जोड़ना या नमस्कारादि करना छोड़ देना पड़ेगा।

आगे चलकर कहा जाय कि गुरु उपदेश क्यों देते हैं ? क्या उपदेश द्वारा स्व-पर-हित साधकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए ? यदि उपदेश देने में गुरुओं का यही ध्येय हो तो मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् अशरीरी अवस्था में वे किस प्रकार उपदेश दे सकेंगे ? इससे तुम्हारी दृष्टि में मोक्ष में जाने के बाद वे अपूज्य होंगे और उतने ही पूज्य रहेंगे जितने कि मोक्ष के इरादे अर्थात् अशरीरी बनने के इरादे से उपदेश न दें और केवल इस चतुर्गति रूप संसार में सदा काल भटकने वाले बने रहें, इस इरादे से उपदेश दें। क्योंकि इसके बिना उनके द्वारा सदा काल बोध नहीं दिया जा सकता और यदि वे बोध न दें तो तुम्हारी दृष्टि से पूजनीय नहीं गिने जायेंगे। परन्तु बोध देने के लिए आहार लेना पड़े, निहारादि करना पड़े, वे भी तुम्हारी दृष्टि में पूजनीय और मोक्ष में जाने के बाद अनाहारी बनने वाले पूज्य नहीं।

'उपदेश करें वे ही उत्तम' ऐसा मानने पर अन्त में, आहार करे वह उत्तम और आहार नहीं करे वह उत्तम नहीं–ऐसा मानने का प्रसंग आ पड़ेगा। अतः सदुपदेशादि करें वे तो उत्तम हैं ही परन्तु जो ऐसे शुभ कार्य करके निवृत्त बन चुके हैं वे तो उनसे भी उत्तम हैं, ऐसा मानना ही चाहिए।

'मूर्ति उपदेश नहीं देती अतः पूजनीय नहीं और गुरु उपदेश देते हैं अतः पूजनीय है' ऐसी अज्ञानपूर्ण बातें करने वाले तत्त्व को नहीं

समझते । उपदेशादि देकर जो धन्य बन चुके हैं, ऐसे सिद्ध भगवन्तों की मूर्ति तो उपदेश देने वाले गुरुओं से भी अधिक पूजनीय है क्योंकि गुरुजन उनका आलम्बन लेकर ही गुरु बन सके हैं । जो सिद्ध भगवन्तों की पूजा करने से इन्कार करते हैं उनके समान कृतघ्न इस जगत् में दूसरा कोई भी नहीं ।

प्रश्न ४४ :– बहुत लोग कहते हैं कि केवल मूलसूत्र को मानना चाहिए, टीका आदि पीछे से बनी हैं अतः उनको नहीं मानना चाहिए । तो इसमें तथ्य क्या है ?

उत्तर :– मूलसूत्रों में कहा है कि **'गणहरा गंथंति अरिहा भासइ ।'** श्री गणधर भगवन्त सूत्र को गूंथते हैं और श्री अरिहन्त भगवन्त अर्थ कहते हैं । केवल मूलसूत्र को मानने का कहने वाले छद्मस्थ गणधर भगवन्तों का वचन मानने को कहते हैं तथा केवलज्ञानियों द्वारा बताये हुए अर्थ जिनमें भरे हुए हैं ऐसे टीका, चूर्णि, भाष्य तथा निर्युक्ति आदि शास्त्रों को मानने से इन्कार करते हैं । छद्मस्थ गणधरों का कहा मानना और केवलज्ञानी भगवान का कहा नहीं मानना, क्या यह उचित है ? इस कारण शास्त्रों में स्थान-स्थान पर निर्युक्ति आदि को मानने के लिये उपदेश दिया है । कहा है कि–

सुतत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइयो य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगो ।।३।।

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान के तीन प्रकार हैं । सर्वप्रथम केवल सूत्र और उसका अर्थ, दूसरा अनुयोग निर्युक्ति से मिश्रित तथा तीसरा भाष्य-चूर्णि आदि सभी से । इस प्रकार अनुयोग अर्थात् अर्थ कहने की विधि तीन प्रकार की है ।

सूत्र तो केवल सूचना रूप होते हैं । उनका विस्तृत विवरण तो पंचांगी से ही मिलता है । जो पंचांगी को मानने से इन्कार करते हैं वे भी गुप्त रूप से टीका आदि देखते हैं, तभी उनको अर्थ का पता लगता है ।

और शास्त्र कहते हैं कि दस पूर्वधर के वचन सूत्र तुल्य होते हैं । निर्युक्तियों के रचयिता **श्री भद्रबाहुस्वामीजी** चौदह पूर्वधर हैं । भाष्यकार

श्री उमास्वातिजी वाचक पाँच सौ प्रकरणों के रचने वाले दश पूर्वधर हैं । **श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** भी पूर्वधर हैं । इसलिए उनके वचन सभी प्रकार से मानने योग्य हैं । चूर्णिकार भी पूर्वधर हैं । टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज आदि भी भवभीरु, बुद्धिनिधान तथा देवसान्निध्य वाले हैं । अतः उनके वचनों को प्रमाणरहित मानना भयंकर अपराध है ।

प्रत्येक भवभीरु आत्मा का यह कर्त्तव्य है कि इन प्रामाणिक महापुरुषों के एक भी वचन के प्रति अज्ञानवश भी कोई दुर्भाव न आने पावे इसके लिये सम्पूर्ण रूप से सतर्क रहे ।

प्रश्न 89 :– आगम पैतालीस कहे जाते हैं, फिर भी कई लोग बत्तीस ही मानते हैं तो क्या यह उचित है ?

उत्तर :– नहीं । बत्तीस आगम मानने वाले भी **श्री नंदीसूत्र** को मानते हैं, जिसमें तमाम सूत्रों की सूची दी गई है । उसमें दिये हुए अनेक सूत्रों में से केवल बत्तीस ही मानना और दूसरों को नहीं मानना, इसका क्या कारण है ? बत्तीस के सिवाय अन्य नये लिखे हुए हैं, ऐसा कहा जाय तो ये बत्तीस के सिवाय अन्य नये लिखे हुए हैं, ऐसा कहा जाय तो ये बत्तीस भी नये लिखे हुए नहीं हैं, इसका क्या प्रमाण है ? यदि परम्परा प्रमाण है तो इसी प्रामाणिक परम्परा के आधार पर दूसरे सूत्रों को भी मानना चाहिए ।

बत्तीस सूत्रों के मानने वालों को इन बत्तीस में नहीं कही हुई ऐसी भी बहुत भी बातें माननी पड़ती हैं । बीस विहरमान का अधिकार, धन्ना-शालिभद्रचरित्र, नेम-राजुल के भव, रामायण आदि बहुतसी वस्तुएँ बत्तीस आगमों में नहीं हैं, फिर भी उनको माननी पड़ती है । बत्तीस सिवाय के अन्य सूत्र परस्पर नहीं मिलते, इसलिए नहीं मानते यदि ऐसा कहा जाय तो बत्तीस में भी कई स्थानों पर विरोध दिखाई देता है, इसका क्या कारण ? यह विरोध निर्युक्ति, भाष्य और टीका आदि को माने बिना नहीं हट सकता ।

कितने ही वचन उत्सर्ग के होते हैं व कितने ही अपवाद के । कितने ही विधिवाक्य होते हैं व कितने ही अपेक्षावाक्य । कितने ही

पाठान्तर, कितने ही भयसूत्र और कितने ही वर्णनसूत्र होते हैं । इस प्रकार सूत्र अनेक भेद वाले होते हैं । उनके गम्भीर आशय को समुद्र के समान बुद्धि के स्वामी टीकाकार आदि ही समझ सकते हैं, अन्य तो उनके विषय का स्पर्श भी नहीं कर सकते ।

इसके उपरान्त भी तुच्छ बुद्धि वाले लोग अपनी बुद्धि की कल्पना से चाहे जो कहें, पर ऐसे लोग जो कुछ भी कहते हैं उसे असत्य और अप्रामाणिक ही समझना चाहिए ।

प्रश्न 90 :– श्री जिनप्रतिमा सम्बन्धी उल्लेख कौन-कौन से सूत्रों में हैं ?

उत्तर :– सूत्रों में जिनप्रतिमा और उनकी पूजा के सम्बन्ध में सैकड़ों उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

श्री महाकल्पसूत्र, श्री भगवतीसूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आचारांग, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उपासकदशांगसूत्र, श्री कल्पसूत्र, श्री व्यवहारसूत्र, श्री आवश्यकसूत्र, श्री शालिभद्रचरित्र, श्री रायपसेणीसूत्र तथा अन्य महत्त्वपूर्ण शास्त्रों के कतिपय उल्लेखों को आगामी पृष्ठों में अर्थ सहित दिया जा रहा है ।

यदि प्रतिमापूजन का प्रचलन न होता तो मूलसूत्रों व अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख क्यों किया जाता ? इस तथ्य पर पाठक स्वयं विचार करें ।

प्रश्न 91 :– क्या आगम व प्राचीन ग्रंथों में मूर्ति पूजा के प्रमाण मिलते है ?

उत्तर :– (1) श्री महाकल्पसूत्र में एक स्थान पर श्री गौतमस्वामी पूछते हैं–

से भयवं तहारूवे समणे वा माहणे वा चेइयघरे गच्छेज्जा ?

हंता ! गोयमा ! दिणे दिणे गच्छेज्जा । से भयवं जत्थ दिणे न गच्छेज्जा तओ किं पायच्छित्तं हवेज्जा ? गोयमा ! पमायं पडुच्च तहारुवे समणे वा माहणे वा जो जिणधरं न गच्छेज्जा तओ छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा ।

से भयवं समणोवासगस्स पोसहसालाए पोसहिए पोसहबंभयारी किं जिणहरं गच्छेज्जा ?

हंता ! गोयमा ! गच्छेज्जा ?

से केणट्ठेणं गच्छेज्जा ?

गोयमा ! णाणदंसणचरणट्ठाए गच्छेज्जा ।

जे केइ पोसहसालाए पोसहबंभयारी जओ जिणहरे न गच्छेज्जा तओ पायच्छित्तं हवेज्जा ?

गोयमा ! जहा साहू तहा भाणियव्वं छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा ।

``हे भगवन् ! तथारूप श्रमण अथवा माहण तपस्वी चैत्यघर अर्थात् जिनमन्दिर में जावें ?'' भगवान् कहते हैं–``हाँ गौतम ! सर्वदा प्रतिदिन जावें ।''

गौ०-``हे भगवन् ! यदि वह नित्य नहीं जावे तो प्रायश्चित्त आता है ?''

भ०-**``हाँ गौतम ! प्रायश्चित्त आता है ?''**

गौ०-``हे भगवन् ! क्या प्रायश्चित्त आता है ?''

भ०-**``हे गौतम ! प्रमाद के वश होकर तथारूप श्रमण अथवा माहण यदि जिनमन्दिर नहीं जावें तो छट्ठ (दो उपवास) का प्रायश्चित्त आता है अथवा पाँच उपवास का प्रायश्चित्त होता है ।''**

गौ०-``हे भगवन् ! जिनमन्दिर क्यों जाते हैं ?''

भ०-**``हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की रक्षा के लिये जाते हैं ?''**

गौ०-हे भगवन् ! यदि कोई श्रमणोपासक श्रावक, पौषधशाला में पौषध में रहते हुए ब्रह्मचारी जिनमन्दिर नहीं जावे तो प्रायश्चित्त आता है ?''

भ०-``हाँ, गौतम ! प्रायश्चित्त आता है । हे गौतम ! जिस प्रकार साधु को प्रायश्चित्त, वैसे ही श्रावक के लिए भी प्रायश्चित्त समझना । वह प्रायश्चित्त छट्ठ अथवा पाँच उपवास का होता है ।''

(2)

श्री महाकल्प सूत्र

''तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव तुंगीयाए नयरीए बहवे समणोवासगा परिवसंति संखे, सयगे, सिलप्पवाले, रिसिदत्ते, दमगे, पुक्खली, निबद्धे, सुपइट्ठे, भाणिदत्ते, सोमिले, नरवम्मे, आणंदकाम-देवाइणो जे अन्नत्थ गामे परिवसंति इड्ढा दित्ता विच्छिन्नविपुलवाहणा जाव लद्धट्ठा, पालेमाणा निग्गंथाण य निग्गंथीण य फासुएणं एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसंज्झं चंदणपुप्फ-धूव-वत्थाइहिं अच्चणं कुणमाणा जाव विहरंति से तेएट्ठेणं गोयमा ! जो जिणपडिमं न पुएइ सो मिच्छदिट्ठी जाणियव्वो, मिच्छदिट्ठिस्स नाणं न हवइ, चरणं न हवइ, मुक्खं न हवइं, सम्मदिट्ठिस्स नाणं चरणं मुक्खं च हवइ, से तेणट्ठेण गोयमा ! सम्मदिट्ठिसड्ढेहिं जिणएपडिमाणं सुगंधपुप्फचंदणविलेवणेहिं पूया कायव्वा ।''

''तुंगी, सावत्थी आदि नगरों के श्रावक शंखजी, आनंद, कामदेव आदि ने त्रिकाल श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा की है तथा जिन पूजा करने वाला सम्यग्दृष्टि है, नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि है तथा पूजा मोक्ष के लिये की जाती है ।'' ऐसा उपर्युक्त पाठ **श्री महाकल्प सूत्र** में है जिसका भावार्थ निम्नानुसार है–

''उस समय तुंगीया नगरी में बहुत से श्रावक रहते थे । 1. शंख, 2. शतक, 3. सिलप्पवाल, 4. ऋषिदत्त, 5. द्रमक, 6. पुष्कली, 7. निबद्ध, 8. भानुदत्त, 9. सुप्रतिष्ठ, 10. सोमिल, 11. नरवर्म, 12. आनंद और 13. कामदेव प्रमुख जो दूसरे गाँव में रहते हैं, धनवान, तेजवान, विस्तीर्ण व बलवान है ।' जिन्होंने सूत्र में अनेक अर्थ प्राप्त किये हैं तथा सूत्र के अर्थ ग्रहण किये हैं तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा की तिथियों के दिन प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले, साधु-साध्वी को प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम का

प्रतिलाभ करते विचरते हैं, जिनमन्दिरों में जिनप्रतिमाओं की त्रिकाल चन्दन, पुष्प, वस्त्रादि द्वारा पूजा करते हुए निरन्तर विचरण करते हैं।

हे पूज्य ! प्रतिमा-पूजन का उद्देश्य क्या ?

'हे गौतम ! जिनप्रतिमा को जो पूजता है वह सम्यग्दृष्टि, जो नहीं पूजता वह मिथ्यादृष्टि जानना। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता, चारित्र नहीं होता, मोक्ष नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को ज्ञान, चारित्र तथा मोक्ष होता है। इस कारण हे गौतम ! सम्यग्दृष्टि वाले को जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा की चन्दन, धूप आदि द्वारा पूजा करनी चाहिए।'

श्री नन्दीसूत्र में इस **महाकल्पसूत्र** का उल्लेख किया हुआ होने से मानने लायक है फिर भी नहीं माने तो उसे नन्दीसूत्र की आज्ञाभंग का दोष लगता है।

(3)

श्री भगवती सूत्र में तुंगीया नगरी के श्रावकों के अधिकार में कहा है कि–

''ण्हाया कय बलिकम्मा''

अर्थात्–**''स्नान करके देवपूजा की''**

(4)

श्री उववाई सूत्र में चम्पानगर के वर्णन में कहा है कि–

''बहुलाइं अरिहंतचेइआइं''

अर्थात्–**'अरिहन्त के बहुत से जिनमन्दिर हैं'** तथा शेष नगरों में जिनमन्दिर सम्बन्धी चम्पानगर का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में चंपानगर के साथ-साथ दूसरे शहरों में भी गली-गली में मन्दिर थे।

(5)

तथा **श्री आवश्यक** के मूल पाठ में कहा है कि–

तत्तो य पुरिमताल वग्गुर ईसाण अच्चए पडिमं।
मल्लि जिणायणपडिमा उन्नाए वंसि बहुगोठी ।।1।।

भावार्थ – पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के श्रावक ने प्रतिमा-पूजन के लिये श्री मल्लिनाथ स्वामी का मन्दिर बनवाया ।

(6)

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों द्वारा श्री जिनप्रतिमा को वंदन करने का अधिकार बीसवें शतक के नवें उद्देश्य में कहा है–

''नंदीसरदीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ इहमागच्छइत्ता, इह चेइआइं वंदइ ।।''

भावार्थ – (जंघाचारण व विद्याचारण मुनि) श्री नन्दीश्वर द्वीप में समवसरण करते हैं । उसके बाद वहाँ के शाश्वत चैत्यों (जिनमंन्दिरों) की वन्दना करते हैं । वन्दना करके यहाँ भरतक्षेत्र में आते हैं और आकर यहाँ के चैत्यों (अशाश्वत प्रतिमाओं) की वन्दना करते हैं ।

(7)

श्री भगवती सूत्र में अमरेन्द्र अधिकार में तीन शरण कहे हैं । वे नीचे माफिक हैं–

अरिहंत वा अरिहंतचेइयाणि वा भावीअप्पणो अणगारस्स

भावार्थ– (1) श्री अरिहंत देव (2) श्री अरिहंत देव के चैत्य (प्रतिमा) और (3) भावित है आत्मा जिनकी ऐसे साधु, इन तीनों की शरण जानना ।

(8)

श्री आचारांग के प्रथम उपांग **श्री उववाई सूत्रानुसार अम्बड़** श्रावक तथा उसके सात सौ शिष्यों ने अन्य देव गुरु की वन्दना का निषेध कर श्री जिनप्रतिमा तथा शुद्ध गुरु को नमस्कार करने का नियम लिया है । वह सूत्र-पाठ निम्नांकित है–

''अंबडस्स परिवायगस्स नो कप्पइ अन्नउत्थिए व अन्नउत्थिय देवयाइं वा अन्नउत्थिअपरिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, नन्नत्थ अरिहंते वा अरिहंत चेइआइं वा ।''

अन्य तीर्थी के प्रति अथवा अन्य तीर्थों के देवों के प्रति अथवा अन्य तीर्थियों ने ग्रहण किये हों ऐसे अरिहन्त के चैत्य (प्रतिमा) के प्रति वन्दना, स्तवना तथा नमस्कार करना अम्बड़ संन्यासी के लिए वर्जित है परन्तु अरिहन्त अथवा अरिहन्त की प्रतिमा को नमस्कार करना वर्जित नहीं है ।

(9)

छठे अंग **श्री ज्ञातासूत्र** में द्रौपदी श्राविका के सत्रह भेदों की द्रव्य भाव पूजा में **'नमोत्थुणं अरिहंताणं'** कहने का पाठ आता है–

''तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जएघरे तेणेव उवागच्छइ, मज्जणघरं अणुप्पविसइ, ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगल-पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसइ अणुपविसइत्ता आलोए जिणपडिमाणं, पणामं करेइ, लोमहत्थयं परामुसइ एवं जहा सुरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणिअव्वं जाव धुवं डहइ, धुवं डहइत्ता, तिखुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ निवेसेइत्ता ईसिरपच्चुण्णमइ 2 करयल जाव कट्टु एवं वयासीनमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसंपत्ताणं वंदइ णमंसइ जिणघराओ पडिणिक्खमइ ।''

इसका भावार्थ इस प्रकार है । इसके बाद वह द्रौपदी नाम की राजकन्या स्नान गृह के स्थान पर आती है और आकर मज्जनघर में प्रवेश करती है । प्रवेश कर पहले स्नान करती है । फिर बली कर्म अर्थात् घरमन्दिर की पूजा करके मन की शुद्धि के लिए कौतुक मंगल करने वाली वह, शुद्ध दोषरहित पूजन योग्य, बड़े जिनमन्दिर में जाने योग्य प्रधानवस्त्र पहनकर मज्जन घर में से निकलती है और निकलकर जहाँ जिनमन्दिर है उस स्थान पर आती है । आकर जिनघर में प्रवेश करती है तथा तत्पश्चात् मोरपंख द्वारा प्रमार्जन करती है । बाकी जैसे सूर्याभदेव ने प्रतिमा-पूजन की उसी विधि से सत्रह प्रकार से पूजा करती है, धूप करती है । धूप करके बाँया घुटना ऊपर रखती है व दाहिना

घुटना जमीन पर स्थापित करती है । तीन बार पृथ्वी पर मस्तक झुकाती है तथा फिर थोड़ी नीचे झुककर, हाथ जोड़कर, दस नाखून शामिल कर, मस्तक पर अंजलि कर ऐसा कहती है– **'अरिहन्त भगवान को नमस्कार हो'** जब तक सिद्धगति को प्राप्त हुए तब तक अर्थात् सम्पूर्ण शक्रस्तव बोलती है । वन्दन-नमस्कार करने के बाद मन्दिर में से बाहर निकलती है ।

(मज्जन घर में द्रौपदी ने घर-मन्दिर की पूजा की है । उसके बाद अच्छे वस्त्र पहन कर बाहर मन्दिर में गई है । इसी प्रकार अब भी कई श्रावक करते हैं ।)

(10)

श्री उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा के वन्दन का पाठ है । वह निम्नलिखित है–

''नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थियदेवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा''

भावार्थ :– हे भगवन् ! मेरे आज से लेकर अन्यतीर्थी (चरकादि), अन्यतीर्थी के देव (हरि-हरादि) तथा अन्य तीर्थियों के द्वारा ग्रहण किये हुए अरिहन्त के चैत्य (जिन प्रतिमा) आदि को वन्दन-नमस्कार करना वर्जनीय है ।

अन्य देव तथा गुरु का निषेध होने पर जैनधर्म के देव-गुरु स्वयमेव वन्दनीय हो जाते हैं । फिर भी कोई कुतर्क करे तो उसे पूछे कि **''आनन्द ने अन्य देवों की, चारों निक्षेपों से वन्दना का त्याग किया अथवा भाव निक्षेप से ?''** अगर कहोगे कि **'अन्य देवों के चारों निक्षेपों का निषेध किया है'** तब तो स्वतः सिद्ध हुआ कि अरिहन्त देव के चारों निक्षेप उसे वन्दनीय हैं । यदि अन्य देवों के भावनिक्षेप का निषेध करने का कहोगे तो उन देवों के शेष तीन निक्षेप अर्थात् अन्य देव की मूर्ति, नाम आदि आनन्द को वन्दनीय होंगे और इस तरह करने से

व्रतधारी श्रावक को दोष लगेगा ही । अन्य देव हरिहरादि कोई आनन्द के समय में साक्षात् मौजूद नहीं थे । उनकी मूर्तियाँ ही थीं, तो बताओ कि उसने किसका निषेध किया ? यदि कहोगे कि **'अन्य देवों की मूर्तियों का'** तो फिर अरिहन्त की मूर्ति स्वतः सिद्ध हुई । जैसे किसी के रात्रिभोजन का त्याग करने पर उसे दिन में खाने की छूट अपने आप हो जाती है ।

इस पाठ में **''चैत्य''** शब्द का **''साधु''** करके कितने ही लोग उलटा अर्थ लगाते हैं । उनसे पूछें कि–**'साधु को अन्यतीर्थी किस तरह ग्रहण करे ?'** यदि जैन साधु को अन्य दर्शनियों ने ग्रहण किया हो अर्थात् गुरु माना हो और वेष भी बदल दिया हो तो वह साधु अन्य दर्शनी बन गया । फिर वह किसी भी प्रकार से जैन साधु नहीं गिना जा सकता । जैसे शुकदेव संन्यासी ने थावच्चा पुत्र के पास दीक्षा ली उससे वह जैन साधु कहलाये पर जैन परिगृहित संन्यासी नहीं कहलाये । वैसे ही साधु भी अन्यतीर्थी परिगृहित नहीं कहलाते । अतः चैत्य शब्द का अर्थ साधु करना सर्वथा गलत है ।

तर्क – चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा करें तो उस पाठ में आनन्द ने कहा है कि–**'मैं अन्य तीर्थी को, अन्य देव को तथा अन्य तीर्थी के द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा को वन्दन स्तवना नहीं करूंगा व दान नहीं दूंगा । ऐसी दशा में प्रतिमा के साथ बोलने का तथा दान देने का कैसे सम्भव है ?'**

समाधान – सूत्र का गम्भीर अर्थ गुरु बिना समझना कठिन है । सूत्र की शैली ऐसी है कि जो शब्द जिस-जिस के साथ सम्भव हों उनको उनके साथ जोड़कर उनका अर्थ करना चाहिए, नहीं तो अनर्थ हो जाय । इससे अन्यदर्शी गुरु के लिए बोलने तथा दान देने का निषेध समझना व प्रतिमा के लिए वन्दन करने का निषेध समझना । यदि तीनों के अनुसार आनन्द का कथन नहीं मिलेगा क्योंकि उस समय हरिहरादि कोई देव साक्षात् रूप से विद्यमान नहीं थे । उनकी मूर्तियाँ थीं । उनके साथ बोलने का तथा दान देने का अर्थ तुम्हारी मान्यतानुसार कैसे बैठेगा ?

(11)

सिद्धार्थ राजा के द्वारा की गई द्रव्यपूजा का वर्णन **श्री कल्पसूत्र** में इस प्रकार है–

''तए णं सिद्धथे राया वसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीयए सइए अ साहस्सिए अ, सयसाहस्सिए अ, जाए अ, लंभे पडिच्छमाणे अ पडिच्छावमाणे अ एवं वा विहरइ ।''

भावार्थ – उसके बाद सिद्धार्थ राजा, दस दिन तक महोत्सव के रूप में कुल मर्यादा का पालन करते हैं जिसमें सौ हजार अथवा लाख द्रव्य लगे, ऐसे याग-अरिहन्त भगवन्त की प्रतिमा की पूजा करते हैं, औरों से करवाते हैं तथा बधाई को स्वयं ग्रहण करते हैं तथा सेवकों द्वारा ग्रहण करवाते हुए विचरण करते हैं ।

शंका – सिद्धार्थ राजा ने यज्ञ किया था, पर पूजा कहाँ की थी ?

समाधान – सिद्धार्थ राजा श्री पार्श्वनाथ स्वामी के बारह व्रतधारी श्रावक थे, ऐसा **श्री आचारांग सूत्र** में कहा है । तो विचार करें कि घोड़े, बकरे आदि पशुवध का यज्ञ वे कभी करेंगे या करायेंगे ? **लंभ** अर्थात् बधाई । व्याकरण के आधार पर यज् शब्द **देव पूजयामीति वचनात्,** देवपूजावाची है । श्रावक तो जिनयज्ञ-पूजा करता है । परम सम्यक्त्वधारी श्रावक सिद्धार्थ राजा श्री जिनमन्दिर में द्रव्यपूजा करने से बारहवें देवलोक (किसी मत से चौथे देवलोक) में जाने का सूत्र में कहा हैं । यदि हिंसक यज्ञ करने वाले होते तो निश्चय ही नरक में जाने चाहिए, परन्तु सिद्धार्थ राजा के मोक्षगामी जीव होने का, श्री वीर परमात्मा ने फरमाया है । चौबीस तीर्थंकरों के माता-पिता निश्चय से मोक्षगामी जीव होते हैं ।

(12)

श्री व्यवहार सूत्र में कहा है कि साधु जिनप्रतिमा के सम्मुख आलोचना लेता है ।

श्री महानिशीथ सूत्र के चौथे अध्ययन में श्री जिनमन्दिर बनवाने वाले को बारहवें देवलोक अर्थात् दान, शील, तप तथा भावना की

आराधना से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल प्राप्त होता है, ऐसा फरमाया है ।

काउंपि जिणाययऐहिं, मंडियं सव्वमेइणीवट्टं ।

दाणाइचउक्केण सड्ढो गच्छेज्ज अच्चुयं जाव न परं ।।1।।

भावार्थ :– पृथ्वीतल को जिनमन्दिरों से सुसज्जित करके तथा दानादि चारों (दान, शील, तप और भाव) करके श्रावक अच्युत-बारहवें देवलोक तक जाता है, उससे ऊपर नहीं ।

(13)

पुनः उसी सूत्र में अष्ट प्रकार की पूजा आदि का विस्तार से वर्णन है । उसे जानने के इच्छुक लोगों को उसे देखना चाहिए ।

(14)

श्री आवश्यक सूत्र में भरत चक्रवर्ती के श्री जिनप्रासाद बनवाने का उल्लेख है ।

थूभसयभाउगाणं चउवीसं चेव जिणहरे कासी ।

सव्वजिणाणं पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअएहिं ।।1।।

अर्थ :– एक सौ भाई के सौ स्तम्भ तथा चौबीस तीर्थंकर महाराज के जिनमन्दिर सारे तीर्थंकर की उनके वर्ण तथा शरीर के प्रमाणवाली प्रतिमाएँ श्री अष्टापद पर्वत पर भरत राजा ने स्थापित की ।

श्री आवश्यक सूत्र में कहा है कि–

'अंतेउरे चेइयहरं कारियं पभावती ण्हाता, तिसंज्झं अच्चेइ, अन्नया देवी णच्चेइ, राया वीणं वायेइ ।'

भावार्थ :– प्रभावती रानी ने अन्तःपुर में चैत्यघर (जिनभवन) बनवाया । उस मन्दिर में रानी स्नान करके प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल त्रिकाल पूजन करती है । किसी समय रानी नृत्य करती है तथा राजा स्वयं वीणा वादन करता है ।

(15)

श्री शालिभद्र चरित्र जिसे प्रायः तमाम जैन मानते हैं, में कहा है कि–

शालिभद्र के घर में उनके पिता ने जिनमन्दिर बनवाया था तथा रत्नों की प्रतिमाएँ बनवाई थीं। वह मन्दिर अनेक द्वारों सहित, देवविमान जैसा बनाया गया था।

(16-17-18)

श्री भगवती, श्री रायपसेणी और **श्री ज्ञातासूत्रादि** अनेक सूत्रों में श्रावकों के वर्णन में **''न्हाया कयबलिकम्मा।''** अर्थात् **''स्नान करके देवपूजा करना''** ऐसे उल्लेख हैं। **श्री भगवतीजी** में तुंगीया नगरी के श्रावक के अधिकार में कहा गया है कि–**''श्रावक यक्ष, नाग आदि अन्य देवों को नहीं पूजे''** तथा **श्री सूयगडांग सूत्र** में भी कहा है कि नागभूतयक्षादि तेरह प्रकार के अन्य देवों की प्रतिमा को पूजने से मिथ्यात्वपन प्राप्त होता है तथा बोधिबीज का नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि श्री अरिहन्तदेव की प्रतिमा को पूजने से समकित की प्राप्ति होती है तथा बोधिबीज की रक्षा होती है। इस कारण **''कयबलिकम्मा''** पाठ से श्रावकों को श्री जिनप्रतिमा की पूजा करनी चाहिए।

कितने ही **''न्हाया कयबलिकम्मा''** का **''स्नान करके फिर पानी के कुल्ले किये''** ऐसे शास्त्र के बिल्कुल विपरीत अर्थ करते हैं, जो असत्य है।

भावनिक्षेप से साक्षात् तीर्थंकर को वन्दन-पूजन करने का जो फल है तथा सम्यक्त्व और ज्ञान सहित चारित्र पालने का जो फल सूत्र में बताया है, वही फल श्री जिनप्रतिमा के वन्दन पूजन का कहा है। यावत् मोक्षप्राप्ति तक का बतलाया है।

(19)

श्री दशाश्रुतस्कन्ध के दसवें अध्ययन में कहा है कि श्री महावीर स्वामी राजगृही नगरी में पधारे तब वन्दन करने जाने के लिए चेलणा

रानी श्रेणिक राजा के पास आई और कहने लगी–(वह पाठ निम्नांकित है)–

''चिल्लणादेवी एवं वयासी तं महाफलं देवाणुप्पिये ! भगवं महावीरं वंदामो, एमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो, कल्लाणं मंगलं चेइयं पज्जुवासेमो तेणं इह भवे य परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।''

भावार्थ – निश्चित ! हे चिल्लणादेवी ! उसका महाफल होता है। किसका ? तो कहते हैं कि हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी को वन्दन करने से, नमस्कार करने से, सत्कार करने से, सम्मान करने से कल्याणकारी मंगलकारी देव सम्बन्धी चैत्य (जिनप्रतिमा) की तरह पर्युपासना करने से इस भव और परभव में हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, निःश्रेयस मोक्ष के लिए होता है तथा भवोभव में साथ में आने वाला होता है।

(20)

वैसा ही पाठ **'उववाई सूत्र'** में चम्पानगरी के कोणिक राजा के अधिकार में आता है। साक्षात् भगवान को वन्दनार्थ जाते समय के वर्णन का पाठ अनेक स्थलों में आता है।

(21)

श्री रायपसेणी सूत्र में सूर्याभदेव के अधिकार में कहा है–उसका पाठ निम्नलिखित है–

'तएणं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पज्जवत्तीए पज्जत्तिभावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे उज्झथिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था-किं मे पूव्विं करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं ? किं मे पूव्विं सेयं ? किं मे पच्छा सेयं ? किं मे पूव्विंपि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ?'

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणिय परिसोववण्णगा देवा सूरियाभस्स देवस्स इमेयारूवं अज्झथियं जाव संकप्पं समुप्पण्णं समभिजाणित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता

सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेन्ति, वद्धावित्ता सिद्धाययणे जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं अट्ठसयं सण्णिक्खित्तं चिट्ठइ । सभाएणं सुहम्मए णं माणवए चेइयखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणसकाहाओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठन्ति । ताओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाणं य देवीणं य अच्चणिज्जाओ । वंदणिज्जाओ एमंसणिज्जाओ पूयणि-ज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुवासणि-ज्जाओ । तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पूव्विं करणिज्जं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा करणिज्जं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पूव्विं सेयं एयं ण देवाणुप्पियाणं पच्छा सेयं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पूव्विं पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ।

भावार्थ – तब वह सूर्याभदेव पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्ति भाव को प्राप्त हुआ । उस सूर्याभदेव के मन में इस प्रकार का विचार पैदा हुआ कि मुझे पहले क्या करना चाहिए ? बाद में क्या करना चाहिए ? मेरे लिए प्रथम कल्याणकारी क्या है ? बाद में कल्याणकारी क्या है ? आत्मा के लिए हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी, मोक्षकारी तथा परम्परा से शुभानुबन्धी क्या है ?

सूर्याभदेव के उपर्युक्त विचारों को जानकर सूर्याभदेव की सामानिक सभा के देवता आकर सूर्याभदेव को हाथ जोड़कर, मस्तक में आवर्त कर, स्व पक्ष का जय, पर पक्ष का जय-विजय आदि शब्दों से वर्धापना करते हैं । तत्पश्चात् वे कहते हैं कि हे देवानुप्रिय ! आपके सूर्याभ विमान में सिद्धायतन (जिनमन्दिर) है । उस मन्दिर में 108 जिनप्रतिमाएँ हैं । उन प्रतिमाओं की अवगाहना जिनेश्वर समान है तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्य स्तम्भ है । इस स्तम्भ में वज्रमय पेटियाँ हैं । उनमें अनेक जिनेश्वरों की अस्थियाँ आदि स्थापित की हुई हैं ।

हे देवानुप्रिय ! वे जिनप्रतिमाएँ और दाढ़ाएँ सम्यग्दृष्टि के लिए अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन और सम्मान करने योग्य हैं तथा (वे प्रतिमाएँ) कल्याणकारी-मंगलकारी हैं अतः

आपके लिए सर्वप्रथम यही कर्त्तव्य है और बाद में करने योग्य भी यही है । इसी में पहले और बाद में श्रेय है । आपको पहले और बाद में भी हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी, मोक्षकारी व परम्परा से शुभानुबन्धी होगा ।

(22)

सम्यग्दृष्टि सूर्याभदेव ने जिनप्रतिमा को नमस्कार कर, फल चढ़ाकर, अष्ट मंगल का आलेखन कर, अनेक प्रकार से धूपादि कर स्तुति में शक्रस्तव **'नमोत्थुणं'** कहकर सत्रह प्रकार से पूजा की है । उसका विस्तृत वर्णन श्री रायपसेणी में है जो अतिविस्तृत होने से यहाँ नहीं लिखा है ।

श्री महावीर प्रभु ने पूजा का फल बताते हुए कहा है कि–

''हियाए सुहाए खेमाए निस्सेयस्साए अणुगामित्ताए भविस्सइ ।''

अर्थ – श्री जिनप्रतिमा की पूजा पूजक के हित के लिए, सुख के लिए, मोक्ष के लिए तथा जन्मान्तर में भी साथ में आने वाली है ।

(23)

श्री जीवाभिगम सूत्र में विजयपोली तथा अन्य अनेक सम्यग्दृष्टि देवों के द्वारा की गई सत्रह प्रकार की पूजा का वर्णन है और उसका फल यावत् मोक्ष तक कहा है ।

(24)

श्री ज्ञाता सूत्र में तीर्थंकर गोत्र-बंध के लिए बीस स्थानक कहे हैं । उनमें **'सिद्धपद की आराधना करना'** ऐसा फरमाया है । उन अरूपी सिद्ध भगवान का ध्यान-आराधन उनकी मूर्ति बिना हो ही नहीं सकता ।

(25)

श्री व्यवहार सूत्र में कहा है कि–

''सिद्धवेयावच्चेणं महानिज्जरा महापज्जवसाणं चेवति ।''

सिद्ध भगवान की वैयावच्च करने से महानिर्जरा होती है अर्थात् मोक्ष मिलता है ।

प्रश्न :– 92 सिद्ध भगवान की वैयावच्च तो नाम-स्मरण से ही हो जाती है तो फिर मूर्ति का क्या प्रयोजन ?

उत्तर – नामस्मरण को तो गुणगान, कीर्तन, भजन, स्वाध्याय आदि कहते हैं, वैयावच्च नहीं । यदि वैयावच्च का अर्थ ऐसा करोगे तो **श्री प्रश्नव्याकरण** में बालक की, वृद्ध की, रोगी की तथा कुलगणादि की दस प्रकार से साधु की वैयावच्च करनी चाहिये तो क्या केवल नामस्म रण से वैयावच्च हो जायेगी ? अथवा आहार-पानी, औषधि, अंगमर्दन, शय्या, संथारा आदि करने से होगी ? नाम आदि याद करने से वैयावच्च नहीं गिनी जाती, परंतु पूर्वोक्त प्रकार से सेवा-भक्ति करने से ही गिनी जाएगी । सिद्ध भगवान की वैयावच्च तो उनका मन्दिर बनवाकर, उसमें उनकी मूर्ति स्थापित कर, वस्त्राभूषण, गंध, पुष्प, धूप-दीप द्वारा अष्ट प्रकारी व सत्रह प्रकारी आदि पूजा करना, उसे ही कही जाएगी ।

(26)

श्री प्रश्नव्याकरण में आदेश है कि निर्जरा के अर्थी साधु को **'चेइयट्टे'** अर्थात् जिनप्रतिमा की हीलना, उसका अवर्णवाद तथा उसकी दूसरी भी आशातनाओं का उपदेश द्वारा निवारण करना चाहिए ।

(27)

श्री आवश्यक मूल सूत्र पाठ में–

''अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सगं''

ऐसा कहकर, साधु तथा श्रावक, सर्वलोक में रही हुई श्री अरिहन्त की प्रतिमा का काउस्सग्ग, बोधिबीज के लाभ के लिए करे–ऐसा फरमाया है ।

(28)

''थयथुइ मंगलं''

स्थापना की स्तुति करने से जीव सुलभबोधि होता है–ऐसा **श्री उत्तराध्ययन सूत्र** में लिखा है ।

(29-30)

श्री अनुयोगद्वार तथा **श्री ठाणांग सूत्र** में चारों निक्षेप और चार प्रकार के तथा दस प्रकार के सत्यों का वर्णन किया हुआ है जिसमें स्थापना निक्षेप तथा स्थापना सत्य भी आता है । उससे भी स्थापना अर्थात् मूर्ति को मानने की बात सिद्ध हो जाती है ।

दुराग्रह रहित बुद्धिमान् लोगों के लिए केवल संकेत ही काफी है । सूत्र के सैकड़ों पाठों में से केवल इतने ही पाठ देना उचित समझते हैं । और भी कई प्रमाण प्रसंग आने पर बताये जायेंगे । उस पर से विद्वान् पाठकगण वास्तविक निर्णय कर सकेंगे । अगर जैनों में परम्परा से मूर्तिपूजा न होती तो उसका उल्लेख मूलसूत्रों में कहाँ से आया ? जगत् में प्रत्येक नामवाली वस्तु अपने गुणविशेष से जुड़ी हुई है, वैसे ही **'मूर्ति'** नामधारी वस्तु भी किसी प्रकार निरर्थक नहीं है । मूर्ति शब्द भी उसमें रही हुई वस्तु का वास्तविक बोध कराती है । वह स्थापना सिवाय अन्य किसी भी विषय के कारण से सिद्ध नहीं होती ।

प्रश्न 93 :– प्रतिमा को जिनराज के तुल्य मानना और उसे आभूषण आदि चढ़ाना, पुष्प, धूप, स्नान, विलेपनादि करना, क्या यह उचित है ? क्या यह क्रिया त्यागी को भोगी बनाने जैसी नहीं है ?

उत्तर :– त्यागी और भोगी का अन्तर जो जानता है, वह ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता । अर्हन्त शब्द का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ निम्नानुसार है–

अरिहंति वंदणनमंसणाइ, अरिहंति पूअसक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति ।।

अर्थ – जो वन्दन नमस्कार आदि के योग्य है, जो (इन्द्र आदि देवों के किये हुए आठ प्रातिहार्य रूप) पूजा एवं सत्कार के योग्य है और जो सिद्ध गति की प्राप्ति के योग्य है, उसे अरहन्त कहा जाता है । इस प्रकार अरहन्त नाम ही द्रव्यपूजा का सूचक है ।

जिनके राग-द्वेष जड़मूल से उखड़ गये हैं, वे दूसरे के द्वारा की हुई पूजा से भोगी अथवा रागी कैसे बन सकते हैं ? राग की उत्पत्ति का कारण मोह-ममता है और वह सर्वथा नष्ट हो चुकी है, तो वे इसमें किस प्रकार लिप्त हो सकते हैं ? यदि पूजा से भोगी बन जायेंगे तो क्या निन्दा से निन्दनीय बन जायेंगे ? नहीं । पूजा अथवा निन्दा से उनकी महिमा बढ़ती-घटती नहीं । पूजा तथा निन्दा से उनका कोई सम्बन्ध

नहीं । पूजक और निन्दक पुरुष को ही वे क्रियाएँ शुभाशुभ फल देने वाली हैं । भगवान को केवल-ज्ञान होने के पश्चात् आठ प्रातिहार्य होने का **श्री समवायांग सूत्र** में विस्तृत वर्णन है–

(1) **अशोक वृक्ष** भगवान को छाया करता है ।

(2) देवता जल-थल में उत्पन्न पंचरंगी **पुष्पों** को घुटनों तक बरसाते हैं ।

(3) आकाश में **देवदुंदुभि** बजती है ।

(4) दोनों ओर **चँवर** ढुलते हैं ।

(5) प्रभु के बैठने के लिए रत्नजड़ित **स्वर्ण-सिंहासन** हमेशा साथ रहता है ।

(6) रत्नमय तेज के अंबाररूप **भामण्डल** भगवान के पीछे रहता है ।

(7) **दिव्यध्वनिरूप** प्रातिहार्य द्वारा मनोहर वीणावादन होता है ।

(8) एक ऊपर दूसरा, ऐसे **तीन छत्र** प्रभु के सिर पर रहते हैं ।

और लाखों, करोड़ों देव जय-जयकार की ध्वनि से स्तुति करते हुए साथ रहते हैं । देव समवसरण बनाते हैं, जिसमें चांदी का गढ़ और सोने के कंगूरे, सोने का गढ़ और रत्न के कंगूरे, रत्न का गाढ़ और मणिमय कंगूरे होते हैं और बीस हजार सीढ़ियाँ एक तरफ होती हैं; भगवान रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके देशना देते हैं । शेष तीन दिशाओं में देवता भगवान की तीन मूर्तियाँ स्थापित करते हैं । इन दिशाओं से आने वाले लोग तथा तिर्यंच उनको साक्षात् प्रभु जानकर नमस्कार करते हैं ।

प्रभु एक अपने मुख से तथा तीन दिशाओं में मूर्ति के मुख से, इस प्रकार चार मुखों से अतिशय द्वारा देशना देते हैं । चलते समय भगवान स्वर्णकमल पर पैर रखकर ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, सुगन्धित पवन, सुगन्धित जल का छिड़काव और पुण्यवान पुरुषों का सेवन करने वाले तीर्थंकरों का त्यागीपन गया नहीं, कर्म लगे नहीं, भोगी बने नहीं, फिर मुक्त परमेश्वर की मूर्ति के सम्मुख पूजक की द्रव्यपूजा से उन पर भोगी बनने का आरोप अथवा आक्षेप करना मात्र अज्ञानता के सिवाय और क्या है ?

भोगीपन बाह्य पदार्थों से नहीं होता । वह तो आन्तरिक मोह के परिणाम के आधीन है । ऐसे मोह को तो भगवान ने पहले से ही देशनिकाला दे दिया है । अलिप्त भगवान को जैसे पूजा से राग नहीं, वैसे निन्दा से द्वेष भी नहीं । जो जिस तरह करता है वह उसी प्रकार का फल अपने आत्मा के लिए प्राप्त करता है । जैसे सूर्य की ओर कोई थूंके अथवा स्वर्णमोहर फेंके तो वह फेंकने वाले की तरफ लौट कर आती है । सूर्य को उससे कुछ लगता नहीं । इसी प्रकार परमात्मा की पूजा अथवा निन्दा से भी पूजक निन्दक को ही लाभ-हानि होती है ।

श्री तीर्थंकरदेव जन्म से लेकर निर्वाण तक पूजनीय और वन्दनीय हैं क्योंकि निन्दनीय वस्तु के चारों निक्षेप जैसे निन्दनीय होते हैं, वैसे ही पूजनीय वस्तु के चारों निक्षेप पूजनीय होते हैं ।

द्रव्यनिक्षेप से पूर्व जन्मावस्था का आरोपण कर जैसे इन्द्रादि देवों ने स्नान करवाया, वैसे प्रभु को जल से स्नान कराके ऐसी भावना धारण करें कि–**''हे प्रभो ! जैसे जल-प्रक्षालन से शरीर का मैल दूर होता है और बाहरी ताप का नाश होता है वैसे ही भाव रूप पवित्र जल से मेरी आत्मा के साथ रहने वाले कर्ममैल का नाश हो ।''** और विषय-कषाय के तप का उपशम हो तथा यौवनावस्था या राज्यावस्था का आरोपण कर वस्त्र, आभूषण आदि पहनाने में आते हैं उस समय सोचना कि **'अहो प्रभो ! आपको धन्य है कि इस प्रकार वस्त्राभूषण, राजपाट को छोड़कर, संयम ग्रहण कर, आपने अनेक भव्य जीवों का उद्धार किया । मैं भी अपनी अल्पबुद्धि और परिग्रह को छोड़कर ऐसा कब बनूंगा ?'**

इस प्रकार केसर, चन्दन, नैवेद्यादि चढ़ाकर, सभी स्थानों पर अलग-अलग भावना भावित करने में आती है तथा केवली अवस्था का आरोपण कर नमस्कार-स्तुति आदि की जाती है । श्री वीतरागदेव गृहस्थावस्था में वस्त्र तथा आभूषण के भोगी थे, परन्तु उस अवस्था में भी मन से तो त्यागी ही थे । परन्तु तीर्थंकर पदवी का निकाचित पुण्य उपार्जन करके आये होने से प्रातिहार्यादि बाह्य ऋद्धि भी आकर प्राप्त

होती है और निर्लिप्त भाव से इसका भी भोग करना पड़ता है । परन्तु उस समय भी राग-द्वेष रहित शुद्ध भाव में होने से उनको नये कर्मों का बन्धन नहीं होता है । राग-द्वेष की चौकड़ी मिलती है, तभी कर्मबंध होता है ।

वीतराग प्रभु का खान-पान, बैठना-उठना आदि सब मोहममत्व रहित होने से बंध के नहीं, परन्तु निर्जरा के हेतु हैं जबकि अज्ञानी लोग उन सभी कार्यों में मोहित हो जाने से कर्मबंध करते हैं ।

प्रभु तो वीतराग हैं, निरागी हैं, तो फिर उनकी वस्त्रालंकार द्वारा पूजा करने से उनके निरागीपन में लेशमात्र भी न्यूनता कैसे आ सकती है ? भगवान की तीन अवस्थाओं में प्रथम **पिण्डस्थ अवस्था** के तीन भेद हैं–

(1) जन्मावस्था – नहलाना, प्रक्षालन करना, अंग पोंछना आदि करना जन्मावस्था की भावना है ।

(2) राज्यावस्था – केसर, चन्दन, फूलमाला, आभूषण, अंगरचना आदि करना, राज्यावस्था की भावना है ।

(3) क्षमणावस्था – भगवान का केश रहित मस्तक, कायोत्सर्गासन आदि का चिन्तन करना श्रमणावस्था की भावना है ।

दूसरी पदस्थ अवस्था – पद कहने से श्री तीर्थंकर पद । इसमें केवलज्ञान से लगाकर निर्वाण पर्यन्त की केवली अवस्था का चिन्तन करने का है । इस अवस्था में प्रभु आठ प्रातिहार्य सहित होते हैं तथा रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठते हैं । सोने का लगातार स्पर्श पाकर भी उनका वीतराग भाव चला नहीं जाता और यदि चला जाता होता तो गणधर महाराज तथा इन्द्रादिदेव किसलिए वीतराग कहकर उनकी स्तुति करते ? वीतरागपन का भाव यह कोई बाह्य पदार्थ नहीं, परन्तु आन्तरिक वस्तु है ।

तीसरी रूपातीत अवस्था – यह रूप रहित सिद्धत्व की अवस्था है । प्रभु को पर्यंकासन पर काउसग्ग ध्यान में शान्त मुद्रा में बैठे हुए देखकर रूपातीत अवस्था की भावना करने की है । ऐसी दशा में प्रभु को देखकर इस अवस्था का चिन्तन करने में आत्मा को अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है ।

जो प्रातिहार्यादि पूजा को नहीं मानते, उन्हें तो केवल निर्वाण अवस्था को ही म ानना चाहिए, पर ऐसा तो तभी हो सकता है कि जब भगवान की एकान्त निर्वाण अवस्था ही पूजनीय हो तथा अन्य अवस्थाएँ अपूजनीय हों । प्रभु की समस्त अवस्थाएँ पूजनीय हैं, इसलिये उनको पूजने की रीति भी उपर्युक्त तीन प्रकार से शास्त्रकारों ने बतलाई है ।

यहाँ एक बात यह भी समझने की है कि जिन साधुओं को लोग वन्दन करते हैं, पूजा करते है वे त्यागी हैं अथवा भोगी ? यदि त्यागी हैं तो वे आहार पानी आदि का उपयोग क्यों करते है ? वन्दन-नमस्कार क्यों स्वीकार करते हैं ? वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने से क्या वे भोगी, अभिलाषी या तृष्णावान सिद्ध नहीं होते हैं ? यदि नहीं तो जिस प्रकार साधु महात्मा राग-रहित होकर पूर्वोक्त वस्तु को उपयोग में लेकर, संयम साधना करते हैं, फिर भी भोगी नहीं बन जाते, उसमें लिप्त नहीं होते, बल्कि सेवक पुरुष यथोचित भक्ति कर आत्मकल्याण साधते हैं, वैसे ही श्री वीतरागदेव की पूजा के लिए भी समझने का है ।

प्रश्न 94 :– भगवान तो साधु हैं, उनको कच्चे पानी से स्नान करवाने में किस प्रकार धर्म होता है ?

उत्तर :– ऊपर बताये अनुसार भगवान तो जन्म से पूजनीय होने से जन्मावस्था आरोपित कर स्नान तथा यौवनावस्था आरोपित कर उनको वस्त्राभूषण पहनाये जाते हैं ।

जैसे श्रद्धालु श्रावकों को ज्ञात होता है कि कोई पुरुष या स्त्री दीक्षा ग्रहण करने वाली है, तो उसे एक दो महीने तक घर-घर भोजन कराया जाता है । स्नान कराकर, वस्त्राभूषण पहनाकर, वरघोड़े पर चढ़ाकर घुमाया जाता है । यह सब सगाई-सम्बन्ध के निमित्त नहीं, परन्तु केवल भक्ति के निमित्त ही किया जाता है । इसके उपरान्त भी जब वही साधु बन जाता है, तब उन में से कुछ भी नहीं किया जा सकता । भाव-निक्षेप के आश्रित कार्य तथा द्रव्यनिक्षेप के आश्रित कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं । भगवान को स्नान आदि कराकर अलंकारो से विभूषित करने का कार्य द्रव्यनिक्षेप की भक्ति के आश्रित है न कि भावनिक्षेप के आश्रित । मूर्ति की भक्ति चारों निक्षेपों से करने की होती है ।

श्री तीर्थंकर महाराजाओं ने तो चारों घाती कर्मों का नाश कर डाला है, कर्मबन्धन के मूल मोह को जलाकर राख कर दिया है । वीतराग होने के कारण नये कर्मों का बन्धन उन्हें नहीं होता, ऐसा **श्री भगवती** तथा **श्री पन्नवणा** आदि सूत्रों में फरमाया है ।

जब साधु को चार कषाय, छह लेश्या और आठ कर्म खपाने शेष हैं तो ऐसी दशा में सामान्य साधु और भगवान की पूजा का कल्प एक समान कैसे हो सकता है ? भगवान स्वर्णसिंहासन पर बैठते हैं, पर सामान्य साधु यदि सोने का स्पर्श भी करता है, तब भी दोष लगता है क्योंकि साधु के लिए मोह पैदा करने का वह कारण है ।

भगवान को पच्चीस क्रियाओं में से एक ईर्यापथिकी (मार्ग पर चलने की) मात्र क्रिया लगती है और उससे भी प्रथम समय में कर्मबन्ध होता है, द्वितीय समय में वह कर्म भोगते हैं तथा तृतीय समय में नाश करते हैं । अतः कहाँ तो केसरी सिंह और कहाँ हिरन ? कहाँ चक्रवर्ती राजा और कहाँ भिक्षुक ? इस प्रकार श्री वीतराग देव और वेषधारी साधु में महान् अन्तर है और इसीलिए दोनों की पूजा का व्यवहार भी एक समान कैसे हो सकता है ?

मूर्ति भगवान के गुणों का स्मरण कराने का एक आलम्बन है, इसलिए कच्चे पानी से स्नान का दोष उसे किस प्रकार लग सकता है ? साक्षात् प्रभु की पूजा तथा उनकी मूर्ति की पूजा का कल्प तो अलग-अलग ही रहेगा । जैसे साक्षात् प्रभु को रथ में बिठाकर उनकी भक्ति नहीं की जाती, जबकि प्रभु की मूर्ति को भक्ति के लिए सभी रथ में बिठाते हैं । भाव अरिहन्त एवं स्थापना अरिहन्त की भक्ति करने की प्रणाली में कई प्रकार से अन्तर पड़ता है ।

प्रश्न 95 :– भगवान तो आधाकर्मी या अभ्याहृत आहार काम में नहीं लेते तो फिर उनकी मूर्ति के सामने बना हुआ, बिकाऊ लाया हुआ अथवा सामने हुआ आहार कैसे रखा जाता है ?

उत्तर :– आधाकर्मी आहार ने लेने सम्बन्धी विचार तो दीक्षा लेने के बाद का है और नैवेद्यादि द्रव्यपूजा तो उसके पूर्व की अवस्था का

विषय है, यह समाधान ऊपर हो चुका है । जैसे साधु होने वाले व्यक्ति को घर-घर भोजन कराया जाता है पर साधु होने के बाद नहीं अर्थात् नैवेद्यादि पूजा, द्रव्यनिक्षेप के आश्रित है, भावनिक्षेप के आश्रित नहीं । जैसे इन्द्रदेव तथा अन्य देव भगवान के जन्म-महोत्सव के समय कई उत्तम द्रव्यों से प्रभु की अर्चना करते हैं तथा बाद में भी देवतागण बारम्बार ऐसी भक्ति करते हैं, वैसे ही प्रभु की छद्मावस्था के कारण उपर्युक्त भक्ति का विधान है । अतः उसमें दोषारोपण करना व्यर्थ है ।

प्रश्न 96 :– छोटी सी मूर्ति के आगे नैवेद्य के ढेर लगा दिए जाते हैं । क्या यह अनुचित नहीं है ? क्या मूर्ति को खाने की आवश्यकता रहती है ?

उत्तर :– यह प्रश्न सर्वथा व्यर्थ है । नैवेद्य, मूर्ति के खाने के लिए नहीं रखा जाता, किन्तु पूजा करने वाला अपनी भक्ति के लिए ऐसा करता है । पूज्य को इससे कोई प्रयोजन नहीं रहता ।

मूर्ति खाती नहीं, इसीलिए उसके सामने यह विनती करने की है कि **''हे प्रभो ! आप निर्वेदी तथा सदा अनाहारी हो । आपके सामने मैं यह आहार इस भाव से रखता हूँ कि मैं इस आहार तथा नैवेद्य का बिल्कुल त्याग कर सदा के लिए आपके जैसा अनाहारी पद (मोक्ष) प्राप्त करूँ तथा हे देवादिदेव ! यह आहार अनेक पापारम्भ करके तैयार किया है और यह आहार यदि मैं खाऊंगा तो फिर इसके आस्वादन से मुझमें राग-द्वेष की भावना जाग्रत होगी । जितना आहार मैं आपको अर्पित करूंगा, उतनी आहार सम्बन्धी रागद्वेष की भावना कम होगी, भक्ति का लाभ मिलेगा तथा परम्परा से मुक्तिफल का स्वाद चखने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा ।''**

प्रश्न 97 :– भगवान अपरिग्रही हैं । उनके सामने पैसे आदि रखकर उन्हें परिग्रही बनाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– यह कुतर्क भी ऊपर जैसा ही है फिर भी इस पर पुनः विचार करें । पहले तो परिग्रह किसे कहा जाता है ? खान, पान, वस्त्र-अलंकार, धन-धान्य आदि आठ स्पर्श वाले पुद्गल हैं, नजरों से जिन्हें

देखा जा सकता है, एक-दूसरे को दिये जा सकते है । परन्तु अठारह पापस्थानकों के पुद्‌गल चार स्पर्श वाले हैं, जिनको केवली भगवान के सिवाय अन्य कोई देख नहीं सकता और इससे पाप के पुद्‌गल एक दूसरे के देने से दिये नहीं जा सकते ।

परिग्रह पाँचवाँ पापस्थानक है । मोह, ममत्व, तृष्णा आदि उसके प्रकार हैं । परमात्मा का मोह-ममता रूप परिग्रह तो पूर्ण रूप से जलकर खाक बन गया है और दूसरे के देने से अब दिया नहीं जा सकता तो फिर अपरिग्रही और मोहरहित भगवान दूसरे के करने से परिग्रही और मोह वाले कैसे बन सकते हैं ?

और श्री जिनप्रतिमा के सामने द्रव्य चढ़ाते समय पूजक की भावना कैसी होती है, यह भी समझने योग्य है ।

द्रव्य चढ़ाते समय पूजक यह सोचता है कि ``हे प्रभो ! मैं जो धन अर्जित करता हूँ, उसमें अनेक प्रकार के कर्मबन्ध होते हैं । साथ ही उस धन को सांसारिक कार्यों में खर्च करने से विशेष पापवृद्धि होती है । ऐसी दशा में इस धन में से मेरे भाव के अनुसार जितना धन मैं आपकी भक्ति में खर्च करूंगा, उस मात्रा में पापवृद्धि रुक जाएगी । इतना ही नहीं परन्तु इससे पुण्यानुबन्धी पुण्य का सर्जन होगा । और अन्त में, यह धन मेरा तो है ही नहीं । मेरा तथा इसका स्वभाव भिन्न है । मैं चेतन हूँ, यह जड़ है । अतः इस पर से जितनी मूर्छा मोह उतरे, उतनी मुझे उतारनी चाहिए । इस प्रकार अपने परिग्रह और अपनी मोह-ममता घटाने के लिए प्रभुभक्ति आदि धार्मिक कार्यों में द्रव्य खर्च किया जाता है ।

जितनी मात्रा में अच्छे कार्य में द्रव्य खर्च करने की इच्छा होती है, उतनी मात्रा में तृष्णा कम होती है और जितनी मात्रा में धनसंचय की इच्छा होती है, उतनी मात्रा में परिग्रह और लोभवृत्ति की वृद्धि होती है ।

मुनिजन भी संयमनिर्वाह के लिए वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ ग्रहण करते हैं । काया पुद्‌गल है, उसे भी वे धारण करते हैं । खान-पान भी करते हैं । उनका शिष्य समुदाय भी होता है । ये सभी प्रकार से पुद्‌गल ही हैं । उन सबको यदि परिग्रह गिनोगे तो साधुओं का

पाँचवाँ व्रत सर्वथा नष्ट हुआ समझना पड़ेगा और किसी भी साधु को मोक्ष नहीं हो सकेगा । परन्तु आज तक असंख्य मुनि मोक्ष में पहुँच गये आगे भी जायेंगे । अतः जैसे साधु पुरुषों के पास पूर्वोक्त वस्तुएँ होते हुए भी, वे उसमें लिप्त तथा ममता वाले नहीं होने से अपरिग्रही ही कहलायेंगे, वैसे ही श्री वीतराग भी अपरिग्रही हैं ।

मरुदेवी माता को हाथी की सवारी किये हुए तथा करोड़ों का अलंकार पहने हुए आन्तरिक मोह के उपशमन के साथ ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तथा छह खण्ड के स्वामी भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावास में ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया । इससे स्पष्ट है कि केवल बाह्य पदार्थों के योग से ही परिग्रह नहीं कहा जा सकता ।

बाहरी पदार्थों के योग को ही यदि परिग्रह कहा जाय तो एक भिखारी जिसके पास पहनने को वस्त्र, खाने को अन्न अथवा फूटी कौड़ी भी न हो तो उसे परम अपरिग्रही तथा महात्यागी समझना चाहिए । पर ऐसा तो कोई नहीं मानता, कारण यह है कि उन भिखारियों के पास बाह्य पदार्थ नहीं होते हुए भी उनमें आन्तरिक परिग्रह यानी तृष्णा तो भरी हुई है, इसीलिए उनका कल्याण नहीं हो सकता ।

इससे सिद्ध होता है कि इच्छा, तृष्णा आदि पाप के पुद्गल स्वयं के अपने पास रहते हैं । उसे आप ले-दे नहीं सकते । जो निष्परिग्रही हैं, वे जिस तरह दूसरों के करने से परिग्रही नहीं बनते, उसी तरह वीतराग की भक्ति के निमित्त द्रव्य चढ़ाने से वीतराग, परिग्रही नहीं बन जाते ।

प्रश्न 98 :– दान, शील, तप और भावना, ये चार प्रकार के धर्म हैं । उनमें मूर्तिपूजा किस प्रकार के धर्म में आती है ?

उत्तर :– मूर्तिपूजा में चारों प्रकार के धर्म मौजूद हैं और वे निम्नानुसार हैं–

प्रथम सुपात्र दान धर्म – इसके दो भेद : (1) अकर्मी (कर्मरहित) सुपात्र दान । (2) सकर्मी सुपात्र दान । पात्र भी दो प्रकार के हैं । एक रत्नपात्र तथा दूसरा स्वर्ण पात्र । श्री तीर्थंकर और सिद्ध कर्मरहित,

आशा-तृष्णारहित रत्नपात्र हैं। उनको उत्तम पदार्थ अर्पण करना–अकर्मी सुपात्रदान गिना जाता है। दूसरा सकर्मी सुपात्र स्वर्णपात्र व सुसाधु। उनको दान देना वह सकर्मी सुपात्रदान गिना जताा है। साधु आठ कर्मों से संयुक्त होते हैं, उनको छह लेश्या भी होती हैं, भूख-प्यास शान्त करने के लिए तथा सर्दी गर्मी को दूर करने के लिए अनेक वस्तुओं के अभिलाषी भी होते हैं।

सिद्ध परमात्मा तथा केवली भगवन्तों की तुलना में छद्मस्थ साधु अल्प पूज्य हैं, फिर भी उनको दान देते हुए गृहस्थ पुण्य उपार्जन का महान् लाभ प्राप्त करते हैं तथा धीरे-धीरे मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं तो फिर इच्छारहित, अकर्मी ऐसे श्री सिद्ध भगवान के सामने भावयुक्त उत्तमोत्तम द्रव्य अर्पण करने से आठ सिद्धि, नवनिधि तथा मुक्तिपद की प्राप्ति हो जाती है, इसमें कोई शंका हो नहीं सकती। एक स्थान पर कहा है कि–

''देहीति वाक्यं वचनेषु नेष्टं, नास्तीति वाक्यं ततः कनिष्टं।
गृहाण वाक्यं वचनेषु राजा, नेच्छामि वाक्यं राजाधिराजः॥1॥''

भावार्थ :– किसी वस्तु की याचना करना कि–**''मुझे वह वस्तु दो''** यह महा नीच वचन है। वस्तु माँगने पर भी नहीं देना और मना करना, यह उससे भी नीच वचन है। वस्तु सामने लाकर कहना कि **'यह वस्तु लो'**–यह राजवचन अर्थात् उत्तम वचन है। और लेने वाला व्यक्ति कहे कि **''मेरी इच्छा नहीं है''** यह वाक्य तो राजाधिराज अर्थात् सर्वोत्तम है। अतः इच्छा-तृष्णारहित भगवान शिरोमणि सुपात्र हैं। उनके सम्मुख द्रव्य चढ़ाकर पूजा करते समय प्रथम दान धर्म सरलता से सिद्ध होता है।

दूसरा शीलधर्म – पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने को शीलधर्म कहते हैं। गृहस्थ जब भावयुक्त द्रव्यपूजा करता है तब पाँचों इन्द्रियाँ संवरभाव को प्राप्त करती हैं। इससे शीलधर्म सिद्ध होता है।

तीसरा तपधर्म – तप छह बाह्य तथा छह आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार का होता है। उसमें जिनप्रतिमा को पूजते समय पूजनकाल

में चारों प्रकार के आहार का त्याग होने से बाह्य तप हुआ तथा भगवान का विनय, वैयावच्च, ध्यान आदि करने से आन्तरिक तप हुआ ।

चौथा भावधर्म – शुभ भावना होने के कारण ही श्रावक पूजा करता है । हजारों, लाखों रुपये खर्च करके मन्दिर आदि बनवाना, बिना भाव के प्रायः अशक्य है । पूजन करते समय श्री तीर्थंकर देवों के पाँचों कल्याणकों की भावना करना भी भावधर्म है ।

इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करने से हम समझ सकते हैं कि श्री जिनेश्वर की मूर्तिपूजा में भी चारों प्रकार के धर्मों की एक साथ आराधना होती है ।

प्रश्न 99 :– ''आरम्भे नत्थि दया ।'' यह सूत्र वचन है जिसके अनुसार दया में ही धर्म है पर आरम्भ में नहीं । श्री जिनपूजा में तो आरम्भ होता है तो फिर उससे धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– मात्र एक पद बोलकर शेष गाथा छोड़ देने से अर्थ का अनर्थ होता है । पूरी गाथा का पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर अर्थ करने से ही सत्य पदार्थ का ज्ञान होता है । वह पूरी गाथा ऐसा अर्थ बताती है कि **'आरम्भ में दया नहीं, सद्आरम्भ बिना महापुण्य नहीं, पुण्य के बिना कर्म की निर्जरा नहीं तथा कर्म की निर्जरा बिना मोक्ष नहीं ।'**

ऐसा कौनसा कार्य है जिसमें आरम्भ अर्थात् द्रव्यहिंसा न होती हो ? परन्तु क्रिया की प्रशस्तता तथा उस समय आत्मा के भाव आदि खास सोचने चाहिए । शुभ भाव में रहने से पाप नहीं होता । इसके लिए **श्री भगवती सूत्र** में फरमाया है कि–

''शुभ जोगपडुच्च अणारंभ''

अर्थात् जहाँ मन, वचन और काया का शुभ योग होता है, ऐसे आरम्भ को श्री तीर्थंकर देव अनारम्भ कहते हैं । इससे कर्म बंधन नहीं होता ।

साधु नदी उतरता है, विहार करता है, गोचरी करता है, पडिलेहण करता है, ये सभी कार्य वह जान-बूझकर करता है । अगर अनजान में करने का कहोगे, तो बड़ा दोष लगेगा क्योंकि साधु को यदि करने व न

करने योग्य कार्य का ज्ञान ही नहीं, तो वह शंकारहित सम्यग्द्रष्टि किस प्रकार कहलायेगा ? जैसे उन कामों में भगवान की आज्ञा है और साधु शुभ भाव में होने से कर्म नहीं बांधते, वैसे ही श्रावक को भी द्रव्यपूजा में तथा साधु को आहार देने में श्री जिनाज्ञा है । उसमें जो हिंसा दिखाई देती है वह, स्वरूप हिंसा होने से तब उसका परिणाम, हिंसा का न होकर देवगुरु की भक्ति का होने से अनारम्भी होती है ।

यहाँ ऐसा कहोगे कि **'द्रव्य पूजा में तो प्रत्यक्ष हिंसा दिखाई देती है तो उसमें धर्म कैसे हो सकता है ? तो ऐसा कहना भी उचित नहीं ।' 'प्रत्यक्ष जीव को नहीं मारना'** इसी को यदि अहिंसक भाव मानोगे तो सूक्ष्म एकेन्द्रिय (लोकव्यापी पाँच स्थावर) में शुद्ध अहिंसक भाव मानना चाहिए क्योंकि वे बिचारे तो हिंसा का नाम निशान भी नहीं समझते और किसी भी जीव की पीड़ा में निमित्त नहीं बनते । इसलिये वे ही शुद्ध अहिंसक सिद्ध होंगे और यदि वे अहिंसक सिद्ध होते हैं, तो सर्वप्रथम मुक्ति भी उन्हीं जीवों की होनी चाहिए ।

परन्तु ऐसी विपरीतता तीन काल में सम्भव नहीं । अतः सच्ची अहिंसा की व्याख्या जीव को नहीं मारना । इतनी ही नहीं किन्तु **'विषय-कषाय रूप प्रमाद के योग से जीव को नहीं मारना'** इसी का नाम सच्ची अहिंसा है । श्री जिनपूजा में प्रमाद का अध्यवसाय नहीं, पर भक्ति का शुभ अध्यवसाय है और इसलिये उसे जैन शास्त्रानुसार हिंसा कभी भी नहीं कही जा सकती ।

इस प्रकार जो व्यक्ति द्रव्य तथा भाव अहिंसा का स्वरूप जानकर अहिंसा का आदर करता है वही सच्चा अहिंसक गिना जाता है ।

कितने ही कार्यों में प्रत्यक्ष हिंसा होते हुए भी उन-उन कार्यों को ऐसे-ऐसे प्रसंगों पर आदर देने की आज्ञा, शास्त्रकारों ने साधु को फरमाई है । जैसे कि–

(1) श्री भगवतीजी में कहा है कि श्री संघ का कारण आ पड़े तो लब्धिवत् साधु, तलवार हाथ में लेकर आकाश मार्ग से जाए ।

(2) श्री ठाणांगसूत्र तथा **श्री बृहत्कल्पसूत्र** में कहा है कि कीचड़ में तथा जल में फँसी हुई साध्वी को बाहर निकालने पर श्री साधु

जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता तथा साधु-साध्वी के पैर में काँटा अथवा कील चुभ जाय या आँख में धूल गिर जाय और कोई निकालने राला नहीं हो तो वे आपस में भी निकालें ।

(3) श्री सूयगडांग सूत्र में कहा है कि कारणवश आधाकर्मी आहार लेने में साधु को दोष नहीं लगता ।

(4) श्री आचारांग सूत्र में साधु को नदी में उतरने की तथा खड्डे में गिर जाय तो पेड़ की डाल अथवा घास आदि को पकड़कर बाहर निकलने की आज्ञा है ।

(5) श्री उववाई सूत्र में कहा है कि शिष्य की परीक्षा लेने के लिए गुरु उस पर झूठे दोष लगाये ।

अब यदि प्रत्यक्ष जीवों को नहीं मारना, इसी को अहिंसा कहोगे तो पंचमहाव्रतधारी साधु को तो तीनों प्रकार की हिंसा का पच्चक्खाण है फिर भी उसे उपर्युक्त कार्य करने को कहा गया है, तो इसका क्या ? इसमें तुम जैसी हिंसा कहते हो वैसी हिंसा तो स्पष्ट रूप से रही हुई ही है । अतः साधु जो उपर्युक्त आज्ञाविहित कार्य करे तो क्या उससे, उसके व्रतों का खण्डन होगा या नहीं ? फिर तुम कहते हो कि खाते-पीते, उठते-बैठते भी ऐसी हिंसा तो होती ही है, तो उसके अनुसार वे हिंसक हैं या अहिंसक ? भगवखान ने तो इस प्रकार जीवों की हिंसा होने पर भी यतनावान साधुओं को आराधक कहा है ।

धर्म के निमित्त शुभ भाव से कोई काम करते हुए हिंसा होती है, उसको भी शास्त्रकारों ने विराधक नहीं माना है । साधु को जब इस प्रकार अधिक लाभ देखकर हिंसायुक्त लगने वाले कार्यों को भी करने की अनुमति है, तो श्रावक को धर्म के निमित्त आरम्भ करते पाप लगे, ऐसा कैसे हो सकता है ? ऐसे कार्यों को तो भगवान शुभानुबन्धी कहते हैं । जैसे कि–

(1) सूर्याभदेव के सामानिक देवताओं ने समवसरण आदि रचकर भक्ति करने को अपनी इच्छा भगवान को बताई थी तब भगवान ने कहा कि, तुम्हारा यह धर्म है । मैंने तथा अन्य तीर्थंकरों ने इसके लिए अनुज्ञा

दी है । आदि । एक योजन प्रमाण जमीन साफ करने में असंख्य वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय तथा अन्य जीव-जन्तुओं का संहार होता है और फिर भी उसमें देवताओं की भक्ति को प्रधान मानकर भगवान ने उसके लिए आज्ञा दी है ।

(2) श्री रायपसेणी सूत्र में चित्रप्रधान कपट करके घोड़ा दौड़ाकर, प्रदेशी राजा को श्री केशी गणधर महाराज के पास उपदेश दिलाने ले गया । उसमें अनेक जीवों का संहार होने पर भी परिणाम शुद्ध होने से उसके इस कार्य को धर्म की दलाली कहा गया है न कि पाप की दलाली ।

(3) उसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की दलाली की और उसको भी पाप दलाली न कहकर धर्म दलाली ही कहा गया है ।

(4) श्री ज्ञातासूत्र में श्री सुबुद्धिप्रधान ने श्री जितशत्रु राजा को समझाने के लिए गंदा पानी साफ करने हेतु हिंसा की, उसे भी धर्म के लिए कहा गया है ।

(5) किसी को दीक्षा लेने की इच्छा है । उसे ओघा, मुहपत्ति, वस्त्र, पात्र की जरूरत है । यदि ये वस्तुएँ कोई श्रावक देता है, तो उसमें धर्म है या अधर्म ?

(6) साधु का आगमन जानकर दूर तक सामने जावे, विहार करते जानकर रोकने जावे, सैकड़ों कोस दूर तक वन्दन करने जावे, कल्प्य वस्तुओं की व्यवस्था कर दे, दीक्षामहोत्सव, मरणमहोत्सव आदि करे, इन सब कामों में पंचेन्द्रिय तक के जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा होती है । फिर भी ऐसा करने में धर्म होता है अथवा अधर्म ?

(7) श्री मल्लिनाथ स्वामी ने छह राजाओं को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से मोहनघर बनाकर अपने ऊपर के मोह को दूर करने के लिए अपने स्वरूप की एक प्रतिमा खड़ी की तथा उसमें नित्य आहार पानी डालते, उसमें लाखों जीवों की उत्पत्ति हुई और उनका नाश हुआ फिर भी भगवान को उसका पाप नहीं लगा । वे तो उसी भव में मोक्ष में गए । उससे यदि पापवृद्धि होती तो वे ऐसा क्यों करते तथा करने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त करते ?

इस तरह आज्ञा सहित के कार्यों में स्वरूप हिंसा होती है परन्तु परिणाम की विशुद्धता से अनुबन्ध रूप में **'दया है'** ऐसा समझना चाहिए ।

प्रश्न 100 :– ''श्री तीर्थंकरदेव अपनी भक्ति के लिए छह काय के जीवों के संहार की आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं ?''

उत्तर :– महान् पुरुष कदापि ऐसा नहीं कहते कि **'मेरी भक्ति करो', 'मेरी वन्दना करो'** अथवा **'मेरी पूजा करो ।'** पर श्री गणधर महाराज की बताई हुई शास्त्रयुक्त विधि के अनुसार पूजन करने से सेवक वर्ग का अवश्य कल्याण होता है । जैसे साधु स्वयं को लक्ष्य कर नहीं कहता कि **'मेरी भक्ति-सेवा करो'** पर उपदेश द्वारा सामान्य रीति से गुरुभक्ति का स्वरूप बतावे, सुपात्रदान की महिमा समझावे तथा भक्तजन तदनुसार आचरण करें, तो इससे साधु को अपनी भक्ति का उपदेश देने वाला नहीं गिना जाता, क्योंकि समुदाय की भक्ति के उपदेश में व्यक्ति का प्रवर्तकपन नहीं गिना जाता ।

प्रश्न 101 :– किसी जीव को मारना, छह काय का संहार करना, यह हिंसा है तथा जीव पर दया लाकर उसे न मानना, छह काय की रक्षा करना, यह धर्म है तो फिर जानबूझ कर जीवहिंसा से धर्म कैसे होता है ?

उत्तर :– यह प्रश्न एकान्तवादी का है । पहले साधु-साध्वी तथा श्रावकों के लिए जिस काम को करने की आज्ञा बतायी गयी है, उसमें क्या हिंसा नहीं है ? अवश्य है; पर यह हिंसा केवल द्रव्यहिंसा है, मारने के द्वेष रूप परिणाम से की हुई हिंसा नहीं है । इसलिए वह हिंसा पापकारी अथवा भावहिंसा नहीं मानी जाती । बाकी हिंसा तो श्वास लेते, हाथ-पैर हिलाते और चलते बैठते हुआ ही करती है । प्रायः कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जिसमें द्रव्यहिंसा न होती हो ।

अब ऊपर के कामों में होने वाली हिंसा अनजाने होती है, ऐसा कहना भी अनुचित है क्योंकि आहार, निहार, विहार आदि तमाम

आवश्यक क्रियाएँ जान-बूझ कर की जाती है । उनको अनजान में करने का, कहने से तो उन क्रियाओं के करने वाले सभी साधु, श्रावक अज्ञानी ठहरेंगे जिनको कृत्याकृत्य व गमना गमन की भी खबर नहीं । और यदि ऐसा होता है, तो उन्हें सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते हैं ? अतः भगवान की आज्ञा में रह कर उनके आदेशानुसार काम करने वाला व्यक्ति हिंसक नहीं, परन्तु अहिंसक और पापी नहीं, किन्तु पुण्यवान गिना जाता है । यदि ऐसा न मानें तो एकेन्द्रिय जीव तो जाने-अनजाने लेशमात्र भी हिंसा नहीं करते, इसलिए उनको तो सर्वोच्च गति प्राप्त होनी चाहिए और यदि ऐसा ही बन जाता है तो क्रिया, कष्ट, तप, जप आदि का क्या प्रयोजन ?

केवल मुँह से **'दया, दया'** की पुकार करने से दया उत्पन्न नहीं होती । इसके लिए दया तथा हिंसा का परमार्थ स्वरूप क्या है ? उसे समझना चाहिए । शास्त्रों में हिंसा तथा अहिंसा तीन-तीन प्रकार की कही है ।

हिंसा के तीन प्रकार हैं–

(1) हेतु हिंसा (2) स्वरूप हिंसा (3) अनुबन्ध हिंसा ।

वैसे ही अहिंसा के भी तीन प्रकार हैं–

(1) हेतु अहिंसा (2) स्वरूप अहिंसा (3) अनुबन्ध अहिंसा ।

जिनमें जीवहिंसा हुई नहीं, पर जीव-रक्षा के प्रयत्न का अभाव है, उसे हेतु हिंसा कहा जाता है । जिसमें जीव-रक्षा का प्रयत्न होते हुए भी जीववध हुआ है, उसे स्वरूप हिंसा कहा जाता है एवं जिसमें जीव का वध भी है तथा जीव-रक्षा का प्रयत्न भी नहीं है, वह अनुबन्ध हिंसा कहलाती है ।

इसी प्रकार अहिंसा के लिए भी समझ लेना ।

श्री जिनपूजादि धर्मकार्य में स्वरूप-हिंसा है, पर हिंसा का भाव न होने के कारण अनुबन्ध, अहिंसा का पड़ता है । जब तक मन, वचन और काया के योग से सम्पूर्ण स्थिरता नहीं हो जाती तब तक बोलते, उठते ऐसे प्रत्येक कार्य करते आरम्भ तथा उससे अल्पाधिक कर्मबन्धन

होता ही रहता है । ऐसी दशा में सर्वथा अहिंसा किसी भी कार्य में किस प्रकार हो सकती है ?

श्री ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में चतुर्भंगी कही है–

(1) सावद्य व्यापार और सावद्य परिणाम ।

(2) सावद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम ।

(3) निरवद्य व्यापार और सावद्य परिणाम ।

(4) निरवद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम ।

इसमें प्रथम विभाग मिथ्यात्व के आश्रित है । दूसरा विभाग सम्यग्दृष्टि तथा देशविरति श्रावक का है क्योंकि श्रावक के योग्य देवपूजा, साधुवन्दन आदि धार्मिक कार्यों में दिखने में तो वे सावद्य व्यापार मालूम होते हैं, पर उनमें श्रावक के परिणाम, हिंसा के न होने के कारण वह केवल स्वरूप-हिंसा है । जिसका पाप आकाश-कुमुद की तरह आत्मा को लग ही नहीं पाता । तीसरा विभाग श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसे का जानना और चौथा विभाग सर्वविरति साधु सम्बन्धी है ।

द्रव्यपूजा करने से हिंसा का पाप लगने का कोई कारण नहीं है ।

श्री ठाणांगसूत्र के पाँचवें ठाणे के दूसरे उपदेश में कर्मबन्धन के पाँच द्वार बताए हैं ।

''पंच आसवदारा पन्नता, तं जहा–(1) मिच्छन्त (2) अविरई (3) पमाओ (4) कषाय (5) जोगा ।''

अर्थ – पापबन्ध के पाँच कारण बताये हैं (1) मिथ्यात्व (2) अविरति, (3) प्रमाद (4) कषाय और (5) योग ।

जबकि प्रभु-पूजा शान्त चित्त से, सम्यक्त्वसहित प्रमादरहित एवं विधिपूर्वक होने से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय आदि चार प्रकार से कर्मबन्ध होना तनिक भी सम्भव नहीं है । पाँचवाँ **'योग'** निमित्त रहा । **श्री भगवती सूत्र** में (1) शुभ योग तथा (2) अशुभ योग–योग के ऐसे दो प्रकार बताये हैं । शुभ योग पुण्यबन्ध का तथा अशुभ योग पापबन्ध का कारण है ।

श्री जिनपूजा में किसी प्रकार की निन्दा अथवा अवर्णवाद आदि न होने से अशुभ योग तो कहा ही नहीं जा सकता। केवल श्री जिनेश्वरदेव को भक्ति, गुणगान, स्तुति आदि के कारण शुभ योग ही कहा जाता है और जितनी मात्रा में वह होगा, उतनी ही मात्रा में शुभ बन्ध पड़ेगा। क्योंकि कारण बिना कार्य पैदा नहीं होता। द्रव्यपूजा में अशुभबन्ध के कारण का अभाव होने से शुभ फल ही होता है।

तर्क–ऐसे तो धर्म के निमित्त मांसाहार करते हुए भी कोई शुभ भाव रखे, तो उसे पाप नहीं लगना चाहिए।

समाधान–यदि मांसाहार करने से बुद्धि तथा परिणाम शुद्ध रहते हों तो सर्वज्ञ परमात्मा को भक्ष्याभक्ष्य का भेद बताने की जरूरत ही नहीं होती। विद्वान् डॉक्टर भी मांसाहार को अच्छी बुद्धि-प्रदायक नहीं मानते। इसके विपरीत वे इसका निषेध करते हैं।

अन्न, जल आदि भक्ष्य पदार्थ पौष्टिक तथा शारीरिक एवं मानसिक बल की वृद्धि करने वाले हैं, जबकि मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य वस्तुएँ विकार करने वाली, रोग बढ़ाने वाली, शरीर तथा मन को बिगाड़ने वाली तथा कुबुद्धि और निर्दयता का कारण होने के कारण अग्राह्य हैं। उनके खाने से शुभ भावना कैसे हो सकती है ? **''अन्न जैसी डकार'' ''और जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन''** कहावतों को भूलना नहीं चाहिए।

एकेन्द्रिय तो केवल अव्यक्त चेतना वाले हैं। उनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय का अनन्तगुणा पुण्य है। इस प्रकार क्रमशः पंचेन्द्रिय जीवों की पुण्याई उनसे अनन्तगुणी है। तो उनको मारने से पाप भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा अनन्तगुणा विशेष है।

और उनको मारने में तीक्ष्ण शस्त्र का उपयोग करते समय क्रोध तथा निर्दयता करनी पड़ती है, जिससे निष्ठुर परिणाम तो प्रारम्भ में ही हो चुके होते हैं तथा मांस में समय-समय पर पंचेन्द्रिय (समूर्च्छिम) जीवों की उत्पत्ति तथा विनाश हुआ करता है। इसी कारण अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ परमात्माओं ने ऐसी घोर हिंसा का सर्वथा निषेध किया है तथा अल्प पाप के कारण अन्न, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को ही भक्ष्य

फरमाया है । इस पर भी श्री जिनपूजा के साथ मांस भोजन की तुलना करना, अत्यन्त अज्ञानता एवं धर्मद्वेष का सूचक है ।

प्रश्न 102 :– पुष्पपूजा से पुष्प के जीवों को कष्ट पहुंचता है, इसका क्या ?

उत्तर :– जो फूल भगवान पर चढ़ते हैं, उनके जीवों को कोई कष्ट नहीं होता, बल्कि उनको सुरक्षित स्थान मिलता है । इससे पुष्पपूजा करने वाले तो उन पर दया करने वाले हैं । उन फूलों को कोई शौकीन लोग लेजाकर हार, गजरा आदि बना कर सूँघते हैं, मसलते हैं, वेश्या अपने पलंग पर बिछाती है, अत्तर के व्यापारी उसे चूल्हे पर चढ़ाते हैं, तेल निकालने के लिए उन्हें पीसते हैं, इस तरह भाँति-भाँति से कष्ट पहुँचाते हैं, जबकि जो फूल प्रभु के अंगों पर चढ़ते हैं, उनको तो जीवन भर कष्ट पहुँचाने या मारने की किसी की शक्ति नहीं । इसलिए वे तो सुख से अपनी आयुष्य पूर्ण करते हैं । श्रद्धापूर्वक फूलों को लाकर, उनको हार में पिरोकर विधिपूर्वक भगवान को चढ़ाने वाला पुष्प के जीवों को कष्ट न देकर सुरक्षा प्रदान करता है ।

श्री आवश्यक सूत्र की बृहद्वृत्ति के द्वितीय खण्ड में कहा है कि–

''जहा एव एयराइसन्निवेसे केइ पभूय जलाभावओ तण्हाइ-परिगया तदपनोदार्थ कूपं खणंति तेसिं च जइवि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्दमाईहिं य मलिणिज्जन्ति तहावि तदुब्भवेण चेव पाणिएणं तेसि ते तण्हाइया सो य मलो पुव्वओ य फिट्टइ सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो हवंति एवं दव्वत्थए जइरि असंजमो तहावि तओ चेव सा परिणामसुद्धी हवइ जाए असंजमो वज्जियं अण्णं च निरवसेसं खवेइत्ति तम्हा विरियाविरएहिं एण दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी पभूयतरणिज्जराफलो यत्ति काऊणमिति ।''

जिस प्रकार किसी नये नगर में पर्याप्त जल के अभाव में बहुत से लोग प्यास से मरते हों तो प्यास दूर करने के लिये वे कुआ खोदते हैं । उस समय उन्हें अधिक प्यास लगती है तथा कीचड़ और मिट्टी से

शरीर मलिन बन जाता है, तो भी कुआ खोदने के बाद उसमें से निकले हुए पानी से उनकी प्यास बुझ जाती है, तथा पहले का लगा हुआ कीचड़ भी दूर हो जाता है । उसके पश्चात् वे खोदने वाले तथा अन्य लोग उस पानी से सुख भोगते हैं ।

उसी प्रकार द्रव्यपूजा में जो स्वरूप जीवहिंसा दिखाई देती है पर उस पूजा से परिणाम की ऐसी शुद्धि होती है कि जिससे असंयम से उत्पन्न हुए अन्य सन्ताप भी नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् वह पूजा संसार को क्षीण करने का सबल कारण बनती है । इस कारण देशविरति श्रावक के लिए जिनपूजा शुभानुबन्धी और अत्यन्त निर्जरा फल को देने वाली है ।

जैसे दयालु डॉक्टर रोगी व्यक्ति पर दया लाकर, उसका रोग दूर करने के लिए नाना प्रकार की कड़वी औषधियाँ देता है अथवा उस रोगी को शरीर की शल्यक्रिया करता है, जिससे उसे अत्यन्त पीड़ा होती है । उससे हैरान होकर भी वह अपने परोपकारी डॉक्टर की निन्दा नहीं करता और इसी तरह अन्य लोग भी उस डॉक्टर को निर्दय अथवा पापी नहीं कहते, क्योंकि डॉक्टर का काम तो रोग दूर करना होता है, उसे किसी प्रकार हिंसक अथवा अधर्मी नहीं कहा जा सकता ।

इसी प्रकार सम्यग्द्रष्टि श्रावक एकेन्द्रिय जीवों पर अनुकम्पा लाकर, उनके मिथ्यात्व रूपी रोग को दूर करने के लिए उनको भगवान के चरण कमलों में पहुँचाता है । अतः वे पुष्पादि वस्तुएँ तो धन्य हैं कि उनका ऐसे उत्तम कार्य में उपयोग हुआ । उन वस्तुओं का ऐसा अहोभाग्य कहाँ कि जिससे उनको परमेश्वर के चरण-कमलों का स्पर्श हो अथवा वहाँ आश्रय मिले । धर्मदाता गुरु महाराज भी शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाने के लिए उसकी नाना प्रकार से ताड़ना करते हैं, उस पर क्रोध करते हैं, शिष्य को प्रत्यक्ष कष्ट देते हैं, फिर भी उनको कोई बुरा या निर्दय नहीं कहता, पर उलटी उनकी प्रशंसा ही करते हैं । ऐसा ही श्री जिनपूजा के लिए उपयोग में आने वाले एकेन्द्रिय जीवों के विषय में भी समझना चाहिए ।

प्रश्न 103 :–तीर्थंकर देव के समवसरण में देवतागण फूलों की वृष्टि करते हैं । वे सचित्त हों तो साधु से उनका संघट्टा कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– श्री समवायांग तथा **श्री रायपसेणी सूत्र** में स्पष्ट कहा है कि **'जलज थलज'** इत्यादि शब्दों से जल में उत्पन्न कमलादि तथा स्थल अर्थात् जमीन पर उत्पन्न जाई, जुई, केवड़ा, चंपा, गुलाब आदि पाँच रंगों के फूलों की, कंद नीचे तथा मुख ऊपर ऐसे जानु-प्रमाण फूलों की वृष्टि होने का उल्लेख है । इससे वे फूल अचित्त नहीं पर सचित्त ही साबित होते हैं ।

ऊपर के सूत्रों में लिखा है कि **''पुप्फवद्दलए विउव्वंति''** अर्थात् फूलों के बादल बनाए हैं, परन्तु फूल नहीं बनाए । इससे भी वैक्रिय फूल सिद्ध नहीं होते ।

अब सचित्त फूल का स्पर्श साधु कैसे करे ? इसके उत्तर में कहना है कि घुटनों तक फैले हुए फूलों को साधु अथवा अन्य किसी व्यक्ति से जरा भी बाधा नहीं पहुँचती, ऐसा भगवान का अतिशय है । जिनके प्रभाव से शेर तथा हरिण, बिल्ली तथा चूहा, चीता तथा बकरी इत्यादि जानवर अपने जातिस्वभाव के पारस्परिक वैर को भी भूल कर धर्म का उपदेश सुनते हैं । उसके प्रभाव से पुष्प के जीवों को कष्ट न हो तो, इसमें आश्चर्य किस बात का ?

श्री स्थूलभद्रजी के चरित्र में कहा है कि **'कोशा'** गणिका ने सरसों के ढेर पर सुई को खड़ा कर उस पर गुलाब का फूल रखकर उस पर नाच किया, फिर भी सुई को अथवा फूल को कोई भी हानि नहीं पहुँची । सोचो कि सरसों पर सुई, उस पर फूल और फूल पर स्त्री का बोझ होते हुए भी किसी को बाधा नहीं पहुँची तो फिर अत्यन्त अचिन्त्य तथा निरुपम प्रभावशाली श्री तीर्थंकरदेव के अतिशय से फूलों को बाधा न हो बल्कि वे प्रफुल्लित हों, इसमें अशक्य क्या है ?

जिनके सम्पर्क से करोड़ों जीव समवसरण भूमि में एकत्र होते हुए भी भीड़ का नाम नहीं, उनका प्रभाव सामान्य जन की कल्पना से बाहर होता है, इसमें कौनसी बड़ी बात है ?

अकथनीय शक्ति के स्वामी देवता जल-थल में उत्पन्न फूल लाकर उनके बादल बनाकर ऐसी खूबी के साथ बरसाते हैं कि जिससे मनुष्य के पैरों से उनको हानि अथवा कष्ट न हो । तथा समवसरण के बीच गढ़ की दीवार के पास चारों ओर फूलों की पंक्ति ऐसी बनाते हैं कि जिससे आने-जाने वाले साधुओं के पैर के नीचे भी पुष्प नहीं आवें । जिस प्रकार बाग में चारों ओर हरी दूब होती है पर बीच में आने-जाने की सड़कें तथा खुली जमीन रहती है और लोग वहाँ बैठते हैं वैसे ही फूलों की वर्षा होने में आश्चर्य नहीं है ।

प्रश्न 104 :– समवसरण में सचित्त वस्तु को बाहर रखना और अचित्त ले जाना, ऐसी आज्ञा है, इसका मैल कैसे बिठाना ?

उत्तर :– सचित्त वस्तु को बाहर छोड़ने की जो बात कही गई है वह अपने उपयोग की वस्तु के लिए है किन्तु पूजा की सामग्री के लिए नहीं । यदि सचित्त वस्तुमात्र का निषेध करोगे तो मनुष्य आदि का शरीर भी सचित्त है अतः उसको भी नहीं ले जाना चाहिए । पर ऐसा होने से तो समवसरण में कोई जा ही नहीं सकता ।

जीवयुक्त पदार्थ की अन्दर प्रवेश करने की शक्ति है, अचित्त की नहीं तथा सचित्त को छोड़कर अचित्त को अन्दर ले जाने की ही बात मानोगे तो राजा के छत्र, चँवर, छड़ी, तलवार, मुकुट तथा सभी लोगों के जूते भी अचित्त होने से अन्दर ले जाये जा सकते हैं, पर उसके लिए तो मना है । उसी प्रकार खाने की अचित्त वस्तु भी बाहर छोड़नी पड़ती है । इससे सिद्ध होता है कि पूजा में कोई आपत्ति नहीं । इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि अपने खान-पान की कोई भी वस्तु चाहे वह अचित्त हो, फिर भी भीतर नहीं ले जाई सकती ।

प्रश्न 105 :– जिस द्रव्यपूजा को साधु नहीं करता, उसका उपदेश देकर दूसरों से करवाने से क्या लाभ ?

उत्तर :– पंचमहाव्रतधारिणी साध्वी को, साधु नमस्कार न करे, वैयावच्च न करे परन्तु श्रावकों को उपदेश देकर आहार दिलावे, वन्दना करावे, दूसरी साध्वी को कहकर वैयावच्च करावे तथा करने वाले को

अच्छा समझे । साथ ही साधु अपने दीक्षित शिष्य को वन्दन न करे, परन्तु दूसरे से वन्दन करावे ।

दूसरी दृष्टि से देखें तो गरीबों को दान देना, साधर्मिक वात्सल्य करना, तपस्वियों को पारणा कराना, मुनिराज के योग्य वस्तुओं की पूर्ति करना आदि धर्म के अनेक कार्य हैं । फिर भी साधु का आचार न होने से वह यह सब न करे, पर श्रावकों को ऐसा करने का उपदेश दे तथा उसकी अनुमोदना करे । इस न्याय से साधु सर्वथा द्रव्य के त्यागी और निरारंभी होने से द्रव्यपूजा न करे, पर उपदेश द्वारा करावे तथा उसकी अनुमोदना करे ।

प्रश्न 106 :– श्रावक के बारह व्रतों में श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा कौनसे व्रत में आती है ?

उत्तर :– जिसके बिना सभी व्रत निष्फल हैं, ऐसी समस्त शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है । उसके करने में श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए भी श्री जिनमूर्ति की द्रव्य-भाव पूजा करना उचित है । देव तो श्री अरिहन्तदेव, गुरु तो श्री जैनधर्म के शुद्ध गुरु और धर्म तो केवलीप्रणीत सत्य धर्म । ये तीनों वस्तुएँ चारों निक्षेपों से सभी को वन्दनीय एवं पूजनीय हैं । इनको मानने वाला सम्यग्दृष्टि और नहीं मानने वाला मिथ्यादृष्टि है । इस प्रकार श्री जिनपूजा सम्यक्त्व का मूल है और सम्यक्त्व सभी व्रतों का मूल है । सम्यक्त्व के बिना सारी क्रियाएँ निष्फल हैं ।

प्रश्न 107 :– तपस्या करने से अनेक लब्धियाँ उत्पन्न होती और अचित्त को अन्दर ले जाना, ऐसी आज्ञा है, इसका मेल कैसे बिठाना ?

उत्तर :– सचित्त वस्तु को बाहर छोड़ने की जो बात कही गई है वह अपने उपयोग की वस्तु के लिए है किन्तु पूजा की सामग्री के लिए नहीं । यदि सचित्त वस्तुमात्र का निषेध करोगे तो मनुष्य आदि का शरीर भी सचित्त है अतः उसको भी नहीं ले जाना चाहिए । पर ऐसा होने से तो समवसरण में कोई जा ही नहीं सकता ।

जीवयुक्त पदार्थ की अन्दर प्रवेश करने की शक्ति है, अचित्त की नहीं तथा सचित्त को छोड़कर अचित्त को अन्दर ले जाने की ही बात मानोगे तो राजा के छत्र, चँवर, छड़ी, तलवार, मुकुट तथा सभी लोगों के जूते भी अचित्त होने से अन्दर ले जाये जा सकते हैं, पर उसके लिए तो मना है। उसी प्रकार खाने की अचित्त वस्तु भी बाहर छोड़नी पड़ती है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा की सामग्री सचित्त हो या अचित्त उसे समवसरण में ले जाने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि अपने खान-पान की कोई भी वस्तु चाहे वह अचित्त हो, फिर भी भीतर नहीं ले जाई सकती।

प्रश्न 108 :– जिस द्रव्यपूजा को साधु नहीं करता, उसका उपदेश देकर दूसरों से करवाने से क्या लाभ ?

उत्तर :– पंचमहाव्रतधारिणी साध्वी को, साधु नमस्कार न करे, वैयावच्च न करे परन्तु श्रावकों को उपदेश देकर आहार दिलावे, वन्दना करावे, दूसरी साध्वी को कहकर वैयावच्च करावे तथा करने वाले को अच्छा समझे। साथ ही साधु अपने दीक्षित शिष्य को वन्दन न करे, परन्तु दूसरे से वन्दन करावे।

दूसरी द्रष्टि से देखें तो गरीबों को दान देना, साधर्मिक वात्सल्य करना, तपस्वियों को पारणा कराना, मुनिराज के योग्य वस्तुओं की पूर्ति करना आदि धर्म के अनेक कार्य हैं। फिर भी साधु का आचार न होने से वह यह सब न करे, पर श्रावकों को ऐसा करने का उपदेश दे तथा उसकी अनुमोदना करे। इस न्याय से साधु सर्वथा द्रव्य के त्यागी और निरारंभी होने से द्रव्यपूजा न करे, पर उपदेश द्वारा करावे तथा उसकी अनुमोदना करे।

प्रश्न 109 :– श्रावक के बारह व्रतों में श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा कौनसे व्रत में आती है ?

उत्तर :– जिसके बिना सभी व्रत निष्फल हैं, ऐसी समस्त शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है। उसके करने में श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए भी श्री जिनमूर्ति की द्रव्य-भाव पूजा करना उचित है। देव

तो श्री अरिहन्तदेव, गुरु तो श्री जैनधर्म के शुद्ध गुरु और धर्म तो केवलीप्रणीत सत्य धर्म। ये तीनों वस्तुएँ चारों निक्षेपों से सभी को वन्दनीय एवं पूजनीय हैं। इनको मानने वाला सम्यग्द्रष्टि और नहीं मानने वाला मिथ्याद्रष्टि है। इस प्रकार श्री जिनपूजा सम्यक्त्व का मूल है और सम्यक्त्व सभी व्रतों का मूल है। सम्यक्त्व के बिना सारी क्रियाएँ निष्फल हैं।

प्रश्न 110 :– तपस्या करने से अनेक लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं परन्तु क्या श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने से किसी को लब्धि या ज्ञान की उत्पत्ति होना सुनी है ?

उत्तर :– श्री रायपसेणी, श्री भगवतीसूत्र, श्री जीवाभिगम, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आवश्यक सूत्रादि बहुत से सूत्रों में मूर्तिपूजा को कल्याणकारी, मंगलकारी और अन्त में मोक्ष देने वाली कहा है। उत्कृष्ट पुण्य जो तीर्थंकर गोत्र है, वह भी जिनपूजा से बँधता है। अन्य देव की मूर्ति की आराधना से भी लोगों के धन, धान्य पुत्र आदि की प्राप्ति के द्रष्टान्त विद्यमान हैं तो श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना से प्रत्येक मनवांछित लब्धि प्राप्त हो–इसमें क्या आश्चर्य है ! इसके सम्बन्ध में द्रष्टांत निम्नानुसार हैं–

(1) अनार्य देश का निवासी श्री आर्द्रकुमार श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा के दर्शन से जातिस्मरणज्ञान प्राप्त कर वैराग्य दशा में लीन हुआ, जिसका वर्णन बारह सौ वर्ष पूर्व लिखित श्री सूयगडांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की टीका में है।

(2) श्री महावीर स्वामी के चौथे पट्टधर तथा श्री दशवैकालिक सूत्र के कर्ता श्री शय्यंभवसूरि को, श्री शांतिनाथजी की प्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध प्राप्त हुआ, ऐसा श्री कल्पसूत्र की स्थिरावली की टीका में कहा है।

(3) श्री द्वीपसागरपन्नति तथा **श्री हरिभद्रसूरिकृत आवश्यक** की बड़ी टीका के अनुसार श्री जिनप्रतिमा के आकर की मछलियाँ समुद्र में होती हैं। जिनको देखकर अनेक भव्य मछलियों को जातिस्मरणज्ञान प्राप्त होता है और बारह व्रत धारण कर सम्यक्त्व सहित आठवें देवलोक

में जाती हैं । इस प्रकार तिर्यंच जाति को भी जिनप्रतिमा के आकार मात्र के दर्शन से अलभ्य लाभ प्राप्त होता है तो मनुष्य को अलभ्य-लाभ प्राप्त हो, इसमें क्या शंका हो सकती है ?

(4) श्री ज्ञातासूत्र में श्री तीर्थंकर गोत्र-बन्ध के बीस स्थानक कहे हैं । उसके अनुसार राजा रावण ने प्रथम अरिहन्त पद की आराधना, श्री अष्टापद पर रहने वाले तीर्थंकर देव की मूर्ति की भक्ति कर, तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा रामायण में कहा है । यह रामायण श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने सत्रह सौ वर्ष पूर्व हुए। श्री जिनसेनाचार्य कृत पद्मचरित्र के आधार से बनाई है और जिसे प्रायः तमाम जैन मानते हैं ।

(5) उसी ग्रन्थ में लिखा है कि रावण ने **श्री शान्तिनाथ प्रभु** की मूर्ति के समाने बहुरूपिणी विद्या की साधना की और प्रभु भक्ति से वह विद्या सिद्ध हो गई ।

(6) श्री पद्मचरित्र में कहा है कि लंका जाते समय श्री रामचन्द्रजी ने समुद्र पार उतरने के लिए श्री जिनमूर्ति के सामने तीन उपवास किये । धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति दी, जिसके प्रभाव से उन्होंने आसानी से समुद्र पार कर लिया ।

(7) जरासंघ राजा ने कृष्ण महाराज की सेना पर जरा डाली, सभी सैनिक बेहोश हो गए । तब श्री नेमिनाथ स्वामी की आज्ञा से कृष्ण राजा ने तीन उपवास किये । धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति दी, जिसके स्नान जल से **'जरा'** टूट गई और सारे सैनिक होश में आ गये । यह मूर्ति शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है (यह कथन **श्री हरिवंशचरित्र** में है) ।

(8) नागार्जुन जोगी को कहीं भी स्वर्ण-सिद्धि नहीं हुई । अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के वचन से श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करने से वह सिद्धि प्राप्त हुई । इससे वह योगी परम सम्यक्त्वधारी श्रावक बना और गुरु पादलिप्ताचार्य की कीर्ति के लिए श्री शत्रुंजय की तलेटी में पालीताणा नगर बसाया, ऐसा श्री पादलिप्त चरित्र में लिखा है ।

(9) श्री श्रीपाल राजा तथा सात सौ कोढ़ियों का अठारह प्रकार का कोढ़ उज्जैन नगर में श्री केसरियानाथजी की मूर्ति के सामने, श्री सिद्धचक्र यंत्र के स्नान जल से दूर हो गया तथा उनकी काया कंचन समान बन गई । वह मूर्ति हाल में मेवाड़ में धुलेवा नगर में बिराजमान है (देखो श्री श्रीपाल चरित्र) ।

(10) श्री अभयदेवसूरिजी का कोढ़ **श्री स्तम्भन पार्श्वनाथजी** की मूर्ति के स्नानजल से गया । उसके पश्चात् उन्होंने नव अंग सूत्रों की टीका रची ।

(11) श्री गौतम स्वामी की शंका निवारण करने के लिए भगवान ने श्रीमुख से फरमाया है कि–जो व्यक्ति आत्मलब्धि से श्री अष्टापद तीर्थ पर चढ़ कर भरत राजा द्वारा बनवाई हुई जिन प्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन करेगा तो वह इसी भव में मोक्ष में जायेगा । इस बात का निश्चय करने के लिए, श्री गौतम स्वामी अष्टापद पर चढ़े तथा यात्रा करके उसी भव में मोक्ष, गये, ऐसा पाठ **श्री आवश्यक निर्युक्ति** में है ।

(12) **श्री भगवती सूत्र** के मूल पाठ में कहा है कि–भावपूर्वक श्री जिनमूर्ति का शरण लेने पर कभी नुकसान नहीं होता ।

(13) चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामी 'श्री आवश्यक निर्युक्ति' में फरमाते हैं कि–

अकसिणपवत्तमाणं, विरयाविरयाणं एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ।।1।।

भावार्थ – देश-विरति श्रावक को पुष्पादि के द्वारा द्रव्यपूजा अवश्य करनी चाहिए । यह द्रव्यपूजा कुए के दृष्टांत से संसार को पतला करने वाली है ।

(14) टीकाकार भगवान **श्री हरिभद्रसूरिजी** ने **श्री आवश्यकवृत्ति** में ऐसा बताया है कि प्रभुपूजा पुण्य का अनुबन्ध करने वाली तथा बहु निर्जरा के फल को देने वाली है ।

(15) श्री अभयदेवसूरिजी ने पूजा के फल को बताते हुए कहा है कि यद्यपि श्री जिनपूजा में स्वरूपहिंसा दिखाई देती है, फिर भी वह

पूजा करने से गृहस्थ (कुए के दृष्टांत से) शुद्ध होता है तथा परिणाम की निर्मलता के अनुक्रम से मुक्तिफल प्राप्त करता है ।

(16) गुणवर्मा राजा के सत्रह पुत्रों में से प्रत्येक ने भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा की तथा वे उसी भव में मोक्ष गये, ऐसा सत्रह प्रकार की पूजा के चरित्र में कहा है । सत्रह प्रकार की पूजा का विस्तृत वर्णन **श्री रायपसेणी सूत्र** में है ।

(17) श्री जिनप्रतिमा की पूजा, भक्ति करने से श्री शांतिनाथ स्वामी के जीव ने श्री तीर्थंकर गोत्र का बंध किया था, ऐसा प्रथमानुयोगक सूत्र में कहा है ।

(18) **श्री भगवती सूत्र** में ऐसा कहा है कि तीर्थंकर का नाम तथा गोत्र सुनने से भी महापुण्य होता है, तो प्रतिमा में तो उनके नाम तथा स्थापना दोनों हैं, अतः उन दोनों की पूजा होने से विशेष पुण्य हो, इसमें क्या आश्चर्य !

(19) श्री श्रेणिक राजा ने श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा की आराधना से तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा अधिकार **'योगशास्त्र'** में है ।

(20) **श्री महानिशीथ सूत्र** में श्री जिनमन्दिर बनवाने वाला बारहवें देवलोक में जाता है, ऐसा कहा है ।

ऐसे सैकड़ों मूल सूत्र तथा निर्युक्ति आदि के प्रमाणों से मूर्तिपूजा उत्तम फल देने वाली सिद्ध होती है ।

वर्तमान में कई लोग अपने आत्मिक धन का झूठा अभिमान करके निश्चय को आगे कर द्रव्य रहित, केवल भाव की ही बात करते हैं और इसके द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि का आडम्बर करते हैं, परन्तु ऐसा करने से थोड़ा बहुत भी जो आत्मिक धन होता है उसे भी अपने अहम् अथवा अहंकार से खोकर वे निर्धन बन जाते हैं । इस विषय में **उत्तराध्ययन सूत्र** में एक द्रष्टांत है ।

किसी साहूकार ने अपने तीन पुत्रों की परीक्षा लेने के लिए प्रत्येक को हजार-हजार स्वर्णमुद्रायें देकर परदेश भेजा और कहा कि

इस धन से व्यापार कर, लाभ प्राप्त कर, शीघ्र लौट आओ । बड़े पुत्र ने तो कर्मचारी नियुक्त कर, आने जाने वालों का अच्छा आतिथ्य सत्कार कर, सभी को प्रसन्न कर, अपने व्यवसाय में खूब धन कमाया ।

दूसरे पुत्र ने विचार किया कि अपने पास तो धन बहुत है, उसे बढ़ाकर क्या करना है ? मूलधन बना रहे, इतना काफी है । ऐसा सोचकर मूलधन को कायम रखकर ऊपर का नफा खाने-पीने व मौज-शौक में उड़ा दिया । तीसरे पुत्र ने मन में सोचा कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विपुल धनराशि के मालिक हम ही तो हैं, फिर कमाने की चिन्ता क्यों करना ? ऐसे अभिमानी विचार से उसने मूल रकम भी मौज-शौक में उड़ा दी ।

अब कुछ समय पश्चात् तीनों पुत्र, अपने पिता के पास घर पहुँचे । सारी बात पूछने के बाद उस पुत्र को, जिसने मूलधन भी उड़ा दिया था, घर के काम-काज में नौकर की तरह रख, अपना गुजारा करने को कहा, अर्थात् श्रेष्ठिपुत्र के पद से हटाकर नौकर बनाया । दूसरे पुत्र को जिसने मूलधन को रखकर उसमें कोई वृद्धि नहीं की, कुछ द्रव्य से व्यापार करने की आज्ञा दी । परन्तु सबसे बुद्धिमान् बड़े पुत्र को, जिसने असली रकम के अलावा बड़ा नफा कमाया था, घर का सारा भार सौंपकर घर का मालिक बनाया ।

ऊपर बताये हुए द्रष्टान्त का उपनय यह है कि असली धन तो मनुष्य-जन्म है । इसमें जिसने अधिक कमाई की, उसे धर्ममार्ग में बढ़कर महान् समृद्धिशाली व देवगति अथवा सर्वोत्कृष्ट अक्षय स्थिति को क्रमशः प्राप्त करने वाला समझना चाहिए । जिसने मूलधन (मनुष्य भव) को यथावत् कायम रखा वह मरकर पुनः मनुष्य योनि में ही आया, कुछ घटा-बढ़ा नहीं, ऐसा समझना चाहिए किन्तु तीसरा तो असली रकम भी गवाँ बैठा, दिवालिया बन गया, इससे उसे मनुष्यगति रूपी उत्तम रत्न को हारकर कर्मवश नरक-तिर्यंच रूपी नीच गति में जाना पड़ा, ऐसा समझना चाहिए ।

संक्षेप में कहा जाय तो आत्मिक शक्ति का अभाव अथवा उसकी वृद्धि के प्रति उदासीनता मूलधन खोकर दरिद्र बनने के समान है । जिस सत्कृत्य से तीर्थंकर गोत्र भी बँधता है ऐसे प्रभावशाली सत्कृत्य का अनादर करने वाले लोग अपने बैठने की डाली को ही तोड़ते हैं । इतना ही नहीं पर जिस महान् पुण्य के फल से यह श्रेष्ठ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, उसकी जड़ को दुराग्रह रूपी कुल्हाड़ी से काटने की प्रवृत्ति करते हैं ।

प्रश्न 111 :– श्री जिनपूजादि कार्य करना तो व्यवहार धर्म है । जो निश्चय को प्राप्त हो चुके हैं, उनके लिए ऐसे अधर्मकार्य की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– जो व्यवहार धर्म को छोड़कर, केवल निश्चय धर्म की साधना करने जाते हैं, वे दोनों से चूकते हैं, क्योंकि श्री जिनमार्ग में शुद्ध व्यवहार को प्रधान पद दिया गया है, केवल निश्चय को नहीं । यह सिद्ध करने के लिए अनेक दृष्टान्त है । जैसे–

(1) श्री भरतराजा को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भी वेश बदलना पड़ा, तो क्या ऐसा किये बिना केवलज्ञान वापिस चला जाने वाला था ? नहीं, पर व्यवहार बनाए रखने के लिए गृहस्थ का वेश उतारना पड़ा और मुनिवेश धारण करना पड़ा ।

(2) साधु बरसते मेह में अपने स्थान पर आवे, परन्तु अकेली स्त्री वाले स्थान पर न रुके । मार्ग चलते समय दूसरा रास्ता न मिले तो साधु हरी दूब पर पैर रखकर चले, परन्तु स्त्री के स्पर्श से बचे क्योंकि यह लोक-व्यवहार से विरुद्ध है ।

(3) केवली महाराजा दिन और रात में समान रूप से देखते हैं, फिर भी व्यवहार बनाये रखने के लिये रात में विहार नहीं करते हैं ।

(4) युगलिक भाई-बहन, पति-पत्नी बनने के बाद भग कंर के मरकर देवलोक में जाते हैं, परन्तु ऐसा काम यदि आज कोई करे तो उसे व्यवहार मार्ग का उल्लंघन कहा जाता है तथा महाअनर्थकारी गिना जाता है । निश्चित रूप से जीवहिंसा तो समान ही है ।

(5) श्री महावीर परमात्मा निश्चित रूप से जानते थे कि दो साधु मरेंगे पर व्यवहार-पालन के लिए उन्होंने बोलने से इन्कार किया ।

(6) श्रावक निरन्तर आरम्भ-परिग्रह में बैठा हुआ है और अनेक जीवों को कष्ट पहुँचाता है । फिर भी चोरी की वस्तु लेना, उसके लिए योग्य नहीं । इसका कारण यही तो है कि लोकव्यवहार का लोप न हो ।

(7) श्री वीरपरमात्मा जानते थे कि–'मेरे रोग की स्थिति पक गई है, अतः अब वह मिट जायेगा' परन्तु व्यवहार के लिए तथा अन्य साधुओं को यह बतलाने के लिये कि औषधि-सेवन से लाभ होता है, प्रभु ने भी औषधि ग्रहण की ।

(8) श्री मल्लिनाथस्वामी अवेदी थे, परन्तु लोक-व्यवहार को मान्य रखने के लिए वे स्त्रियों के साथ ही बैठते ।

(9) राग से बचने के लिए साधु को चातुर्मास के सिवाय अकारण एक स्थान पर एक महिने से अधिक नहीं रहना चाहिए परन्तु जो मोहराग बँधने का होता है तो रहनेमि की तरह एक घड़ी में भी बँध सकता है । फिर भी एक महिने से अधिक रहने पर ही व्यवहार का भंग गिना जाता है, अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार व्यवहारमार्ग-प्रधानता के अन्य भी सैकड़ों उदाहरण हैं ।

श्रावक का शुद्ध व्यवहार रात्रिभोजन आदि का त्याग है । जो इस व्यवहार को तोड़ते हैं वे स्वयं भी अवश्य तत्काल नष्ट हो जाते हैं और जो शुद्ध व्यवहार को अंगीकार करते हैं, वे मोक्षफल प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न 112 :– बारह वर्षीय दुष्काल पड़ने के समय सावद्याचार्यों ने उपदेश देकर मूर्तिपूजा करवाना प्रारम्भ किया है, उसके पहले तो कुछ था ही नहीं, ऐसा कई कहते हैं । क्या यह ठीक है ?

उत्तर :– श्री महावीर स्वामी की बीसवीं पट्ट-परम्परा में श्री स्कन्दिलाचार्य हुए और उनके समय में बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा था । अब जो उनके बाद हुए आचार्यों ने मूर्तिपूजा चलाई हो तो श्री देवद्धिगणी

क्षमाश्रमण तो भगवान महावीर की सत्ताईसवीं पट्ट-परम्परा में हुए हैं, अतः उनको भी सावद्याचार्यों में शामिल करना पड़ेगा और उस समय अन्य सैकड़ों आचार्यों ने एकत्र होकर करोड़ों ग्रन्थों की रचना की अतः उन तमाम ग्रन्थों को भी निरर्थक मानना पड़ेगा । और यदि ऐसा हो तो जैनधर्म रहेगा ही कहाँ ?

एक मूर्ख व्यक्ति भी समझ सकता है कि दुष्काल वर्ष में नैवेद्यादि पूजा का खर्च बढ़ाने के उपदेश का प्रचार कैसे बढ़ सकता है ? उस समय लोग खर्च घटाने के उपदेश को ही ग्रहण करते हैं । और मूर्ति के सामने रखा हुआ अन्न आदि साधु के काम नहीं आता, यह बात क्या उस समय लोग नहीं जानते थे ? साधु अपने स्वार्थवश ऐसा उपदेश करे तो भी उस समय का समाज उसे कैसे चलने देगा ? नैवेद्य पूजा आदि उस समय शुरू हुई तो मूर्ति तो पहले थी ही, यह तो सिद्ध हो गया ।

साक्षात् सरस्वती आदि तथा अन्य देवी-देवता जो हर समय जिन महात्माओं की सेवा में उपस्थित रहते थे, ऐसे शासन प्रेमी धुरन्धर आचार्यों को स्वार्थी मानना तथा आज-कल के निर्बुद्धि पुरुषों को निःस्वार्थी कहना कितना असंगत है ? लाखों वर्षों से विद्यमान मूर्तियाँ तथा हजारों वर्ष पूर्व लिखित पुस्तकें अप्रामाणिक एवं आधुनिक मनधड़न्त कल्पनाएँ प्रामाणिक, ऐसा तो कैसे मान सकते हैं ?

श्री जिनप्रतिमा की पूजा-भक्ति, हाल में श्रद्धालु श्रावकवर्ग के द्वारा करने में आती है । उसके लिए तथा पूजा के समय श्री जिनेश्वरदेव की पिण्डस्थादि तीनों अवस्थाओं का आरोपण करने में आता है । उसके लिए सैकड़ों सूत्रों के आधार हैं, जिनमें से कितने ही सूत्रों के नाम मात्र नीचे दिये जाते हैं । इन सूत्रों तथा इनके रचनाकारों की प्रामाणिकता में किसी के दो मत नहीं हैं ।

(1) **श्री तत्त्वार्थसूत्र** तथा अन्य पाँच सौ प्रकरण के रचयिता दस पूर्वधर वाचकशेखर **श्री उमास्वातिजी महाराज** द्वारा रचित पूजा प्रकरण ।

(2) चौदह पूर्वधर तथा श्री वीरभगवान के छठे पट्टधर **श्री भद्रबाहुस्वामी कृत आवश्यक निर्युक्ति ।**

(3) दस पूर्वधर **श्री वज्रस्वामीकृत प्रतिष्ठाकल्प ।**

(4) **श्री पादलिप्ताचार्य कृत प्रतिष्ठाकल्प ।**

(5) **श्री बप्पभट्टसूरि कृत प्रतिष्ठाकल्प ।**

(6) चौदह सौ चुम्मालीस ग्रन्थों के कर्ता **श्री हरिभद्रसूरिकृत पूजा पंचाशक ।**

(7) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री षोडशक ।**

(8) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री ललितविस्तरा ।**

(9) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री श्रावकप्रज्ञप्ति ।**

(10) **श्री शालिभद्रसूरि कृत चैत्यवंदन भाष्य ।**

(11) **श्री शांतिसूरि कृत चैत्यवन्दन बृहद् भाष्य ।**

(12) **श्री देवेन्द्रसूरि कृत लघु चैत्यवन्दन भाष्य ।**

(13) **श्री धर्मघोषसूरिश्री कृत संघाचारवृत्ति ।**

(14) **श्री संघदासगणि कृत व्यवहार भाष्य ।**

(15) **श्री बृहत्कल्प भाष्य** और उसकी **श्री मलयगिरिसूरि कृत वृत्ति ।**

(16) श्री महावीर प्रभु के हस्तदीक्षित शिष्य अवधिज्ञानी **श्री धर्मदासगणि क्षमाश्रमण कृत उपदेशमाला ।**

(17) जिनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों से वर्तमान विश्व भी चकित हो गया है, उन कलिकालसर्वज्ञ विरुद धारण करने वाले **श्री हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र ।**

(18) उन्हीं द्वारा रचित **श्री त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ।**

(19) पूर्वधरविरचित **श्री प्रथमानुयोग ।**

(20) पूर्व चिरंतनसूरिकृत **श्री श्राद्धदिनकृत्य सूत्र ।**

(21) श्री वर्द्धमानसूरिकृत **श्री आचार दिनकर ।**

(22) श्री रत्नशेखरसूरिकृत **श्री श्राद्धविधि ।**

(23) श्री रत्नशेखरसूरिकृत **श्री आचार प्रदीप ।**

(24) कक्कसूरिकृत **श्री नवपद प्रकरण ।**

(25) श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत **श्री विशेषावश्यक महाभाष्य ।**

(26) मल्लधारी श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित **महाभाष्य वृत्ति ।**

(27) मल्लधारी **श्री हेमचन्द्राचार्यकृत पुष्पमाला ।**

(28) **श्री अभयदेवसूरिकृत पंचाशकवृत्ति ।**

(29) **श्री ज्ञातासूत्र ।**

(30) **श्री ठाणांग सूत्र ।**

(31) **श्री रायपसेणी सूत्र ।**

(32) **श्री जीवाभिगम सूत्र ।**

(33) **श्री जीवाभिगम सूत्र ।**

(34) **श्री महानिशीथ सूत्र ।**

(35) **श्री देवसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।**

(36) **श्री सोमसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।**

(37) **श्री जिनपतिसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।**

(38) **श्री अभयदेवसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।**

(39) **श्री जिनप्रभसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।**

इस प्रकार सैकड़ों आचार्यों के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर मूर्तिपूजा की जाती है । अब उसमें से कौनसे आचार्यों को सावद्याचार्य कहा जाय ? कदाचित् ऐसा कहा जाय कि–**'पूर्वधरों के समय में ज्ञान कण्ठस्थ था पर बाद में उसे पुस्तकारूढ़ करने में आया, अतः मानने में शंका रहती है'** परन्तु यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि उस समय में भी पुस्तकों के सर्वथा अभाव का उल्लेख कहीं नहीं है । क्या श्री ऋषभदेव स्वामी द्वारा चलाई गई लिपि का विच्छेद हो गया था ? यदि हाँ ! तो फिर लोगों के काम किस तरह चलते होंगे ?

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि श्री वीर प्रभु के 980 वर्ष पश्चात् श्री देवद्धिगणि क्षमाश्रमणादि सैकड़ों आचार्यों ने मिलकर एक करोड़ से भी अधिक पुस्तकें बनाई । उस समय आचार्यों से परम्परागत प्राप्त ज्ञान अविच्छिन्न रूप से पुस्तकों में बराबर यथातथ्य उतारने में आया, उसमें से बहुत से ग्रन्थ, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व के लिखे हुए हैं, ज्ञान-भंडारों में मौजूद हैं ।

उस समय उन आचार्यों के कोई प्रतिपक्षी हुए हों तो उनकी तरफ से भी उस समय की लिखी पुस्तकें प्रमाण रूप में मौजूद होनी चाहिए, पर ऐसा लगता नहीं । तो फिर धर्म के स्तम्भ रूप पंडित पुरुषों और उनकी रचनाओं की अवज्ञा करने से महापाप के भागी बनने के सिवाय दूसरा क्या फल मिल सकता है ?

प्रश्न 113 :– कई लोग कहते हैं कि श्री वीर संवत् 670 में सांचोर गाँव में श्री महावीर स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई, उससे पहले मूर्ति थी ही कहाँ ?

उत्तर :– इस कथन का कोई प्रमाण नहीं । यदि ऐसा हो तो लाखों वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा करने के पाठ, मूलसूत्रों में कहाँ से आये ? आज भी हजारों तथा लाखों वर्ष के मन्दिर तथा मूर्तियाँ मौजूद हैं । उन मन्दिरों तथा मूर्तियों की प्राचीनता की अंग्रेज शोधकर्ता तथा अन्य दार्शनिक विद्वान् भी साक्षी देते हैं ।

प्राचीन मन्दिरों और मूर्तियों के लिए कितने ही शास्त्रीय उल्लेख–

(1) श्री आवश्यक मूल पाठ में **'वग्गुर'** श्रावक द्वारा मल्लिनाथ स्वामीजी का मन्दिर पुरिमताल नगरी में बनवाने का उल्लेख है ।

(2) भरत चक्रवर्ती के श्री अष्टापद पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उनके वर्ण, लंछन तथा शरीर के कद अनुसार स्थापित करने का **श्री आवश्यक सूत्र** के मूल पाठ में कथन है ।

(3) निजाम हैदराबाद के पास में कुल्पाक गाँव में भरत राजा के समय में भरवाई हुई श्री ऋषभनाथ स्वामी की मूर्ति जो समय के प्रभाव

से मन्दिर सहित जमीन में दब गई थी, कुछ समय पूर्व प्रगट हुई है । जमीन के अन्दर से मन्दिर निकला है । प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं । आँखों से देखकर ज्ञात कर लेना कि वह तीर्थ प्राचीन है अथवा अर्वाचीन ? लोग इसे **माणिक्यस्वामी** की प्रतिमा भी कहते हैं और वह देवाधिष्ठित है ।

(4) राधनपुर के पास में श्री शंखेश्वर गाँव में शंखेश्वर पार्श्वनाथजी की मूर्ति गत चौबीसी के श्री दामोदर नाम के तीर्थंकर के समय में बनी हुई, देवाधिष्ठित मौजूद है ।

(5) बम्बई के पास अगाशी गाँव में श्री मुनिसुव्रतस्वामी की प्रतिमा उनके समय में बनी हुई कहलाती है ।

(6) श्रीपाल राजा तथा सौ कुष्ठ रोगियों का कोढ़ श्री ऋषभनाथजी की मूर्ति के स्नान-जल से दूर हुआ था । वह मूर्ति श्री धुलेवा नगर में श्री केसरियानाथजी के नाम से पहचानी जाती है, जिसे लाखों वर्ष हो गये ।

(7) राजा रावण के समय में बनी हुई श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथजी की मूर्ति दक्षिण देश में आकोला के पास अंतरिक्षजी तीर्थ में विद्यमान है ।

(8) इस चौबीसी के श्री नेमिनाथ भगवान के शासन के 2222 वर्ष पश्चात् गौड़ देशवासी आषाढ़ नाम के श्रावक ने तीन प्रतिमाएँ भरवाई । उनमें से एक खम्भात में श्री स्तम्भन पार्श्वनाथ की, दूसरी पाटण शहर में तथा तीसरी पाटण के पास में चारूप गाँव में अब विद्यमान है । उस पर निम्नानुसार लेख है–

''नमेस्तीर्थकृते तीर्थे, वर्षद्विक चतुष्टये ।
आषाढ़श्रावको गौड़ो कारयेत् प्रतिमा त्रयम् ।।''

इत्यादि, इस हिसाब से ये प्रतिमाएँ लगभग 5,86,744 वर्ष पुरानी हैं ।

(9) मारवाड़ में नांदिया गाँव में श्री महावीर स्वामी मौजूद थे, तब उनकी मूर्ति स्थापित की हुई है, जिसको जीवितस्वामी कहते हैं ।

(10) काठियावाड़ में श्री महुवा गाँव में भी भगवान श्री महावीर स्वामी विचरते थे, उस समय की भरवाई हुई उनकी प्रतिमा है ।

(11) जोधपुर के पास ओसिया नगर में श्री वीर निर्वाण के 70 वर्ष पश्चात् स्थापित की हुई श्री महावीर भगवान की मूर्ति श्री रत्नप्रभसूरि द्वारा प्रतिष्ठित की हुई है, जिसे 2444 वर्ष हो गये । अन्य प्राचीन लेख भी वहाँ हैं ।

(12) भरुच शहर में श्री मुनिसुव्रतस्वामी के समय की उनकी मूर्ति है, जिसे लाखों वर्ष हो गये ।

(13) कच्छ प्रदेश में भद्रेश्वर तीर्थ का जो भव्य और अति प्राचीन जिनालय है उसका जीर्णोद्धार करते समय जब खुदाई का काम हुआ तो जमीन में से एक ताम्रपत्र मिला है जिस पर प्राचीन समय का लेख है । उसमें लिखा है कि–``यह मन्दिर वीर संवत् 23 में बनवाया हुआ है, जिसको आज लगभग ढाई हजार वर्ष हो गये हैं ।

(14) बीकानेर में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथजी के मन्दिर में, चौबीस सौ तथा उससे भी अधिक वर्षों पुरानी सैकड़ों प्रतिमाएँ हैं ।

(15) सर कनिंगहाम की स्वयं की **'आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट'** में मथुरा में प्राप्त हुई कितनी ही मूर्तियों के लेख प्रगट हुए हैं जिनकी नकलें श्री **'तत्त्व-निर्णय-प्रासाद'** नाम के ग्रन्थ में छपी हुई हैं जिसे जिज्ञासु पढ़ सकते हैं ।

(16) सम्प्रति राजा द्वारा वीर संवत् 290 के बाद में बनवाई हुई लाखों मूर्तियों में से बहुत सी प्रतिमाएँ मारवाड़, गुजरात के अनेक गाँवों में मौजूद है ।

पुनः इसके अतिरिक्त निम्नलिखित स्थलों पर अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं ।

(17) श्री घोघा में श्री नवखंडा पार्श्वनाथ ।

(18) श्री फलौदी में श्री फलवृद्धि पार्श्वनाथ ।

(19) श्री भोयणी में श्री मल्लिनाथजी भगवान ।

(20) श्री आबू के मन्दिरों में अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ हैं ।

(21) श्री कुमारपाल राजा द्वारा बनवाया हुआ श्रीतारंगाजी तीर्थ का गगनचुम्बी जिनालय और उसमें विराजमान श्री अजितनाथ स्वामी की विशालकाय भव्य मूर्ति ।

(22) श्री वरकाणा में वरकाणा पार्श्वनाथ ।

(23) श्री सिद्धाचलजी पर हजारों मन्दिर एवं बिम्ब ।

(24) श्री गिरनारजी पर मन्दिर और सैकड़ों प्रतिमाएँ ।

(25) श्री सम्मेतशिखरजी पर रहे अनेक जिनप्रासाद ।

और श्री अनेक श्री जिनमन्दिर तथा मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर श्री जिनपूजा की प्राचीनता एवं शास्त्रीयता का जीवित प्रमाण देती हैं । यदि मूर्तिपूजा का निषेध होता, तो उपर्युक्त जिनमन्दिरों के पीछे करोड़ों रुपयों का खर्च कैसे होता ? सूत्रों में किसी स्थान पर भी श्री जिनपूजा का निषेध नहीं है और स्थान-स्थान पर श्री जिनपूजा की आज्ञा है ।

''से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासुणं उवा-सयाण एगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइय इड्ढिविसेसा ।।''

श्री ठाणांग सूत्र में श्रावक को, (1) जिनप्रतिमा (2) जिनमंदिर (3) शास्त्र (4) साधु (5) साध्वी (6) श्रावक-श्राविका-इन सात क्षेत्रों में धन खर्च करने का हुक्म फरमाया है तथा अन्य सूत्रों में भी ये सात क्षेत्र श्रावक के लिए सेव्य बतलाये हैं । श्रावक आनन्द आदि बारह व्रतधारी, द्रढ़ धर्मनिष्ठ श्रावक थे । **श्री उत्तराध्ययन** के 28 वें अध्ययनानुसार सम्यक्त्व के आठ आचारों का उन्होंने सेवन किया है । उसमें सात क्षेत्र भी आ जाते हैं क्योंकि आचारों में साधर्मिक वात्सल्य तथा प्रभावना ये दो आचार भी कहे हैं । साधर्मिक वात्सल्य में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका-ये चार क्षेत्र जानने तथा प्रभावना में श्री जिनबिंब, श्री जिनमन्दिर तथा शास्त्र-ये तीन गिने जाते हैं ।

आनन्द, कामदेवादि श्रावकों के अतिरिक्त प्रदेशी राजा ने भी श्री जिनमन्दिर बनवाये हैं ।

प्रश्न 114 :– पहले असंख्य वर्षों की प्रतिमाएँ होने का कहा है परन्तु पुद्गल की स्थिति इतने वर्षों की न होने से किस प्रकार प्रतिमाएँ स्थिर रह सकती हैं ?

उत्तर :– श्री भगवती सूत्र में पुद्गल की जो स्थिति बताई है, वह सामान्य से स्वाभाविक स्थिति बताई है परन्तु जिसकी देव रक्षा करते हैं वे तो असंख्य वर्ष तक रह सकते हैं; जैसे **श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र** में लिखा है कि–

''भरतचक्रवर्ती दिग्विजय कर ऋषभकूट पहाड़ पर पूर्व में हो चूके अनेक चक्रवर्तियों के नाम मिटाकर उन्होंने अपना नाम लिखा ।''

अब सोचो कि **''भरत चक्रवर्ती के पहले अठारह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम भरतक्षेत्र में धर्म का विरह रहा है, तो इतने असंख्य काल तक मनुष्य लिखित नाम रहे या नहीं ? अवश्य रहे । तो फिर शंखेश्वर पार्श्वनाथ आदि की मूर्तियाँ देवता की सहायता से रहें; इसमें क्या आश्चर्य है ?''** ऋषभकूट आदि पहाड़ शाश्वत हैं, पर नाम तो बनावटी है । यदि नाम भी शाश्वत हों तो उनको कोई नहीं मिटा सकता ।

फिर कोई कहता है कि–पृथ्विकाय तो 22000 वर्ष से अधिक नहीं रहते तो क्या देवता आयुष्य बढ़ाने में समर्थ हैं ? उसके उत्तर में कहना है कि–मूर्ति पृथ्वीकाय जीव नहीं है; निर्जीव वस्तु है । अनुपम देवभक्ति के द्वारा उसे असंख्य वर्षों तक भी रखा जा सकता है, क्योंकि जैन शास्त्रानुसार किसी भी पुद्गल द्रव्य का अनन्तकाल तक भी सर्वथा नाश नहीं होता । अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा सभी पुद्गल शाश्वत हैं, पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत हैं । जैसे पर्वत में से पत्थर का एक टुकड़ा लो तो उस टुकड़े का पर्याय बदलेगा पर पूर्णतया नष्ट तो किसी काल में भी नहीं होगा । उसी रीति से तमाम पुद्गलों को समझना चाहिए ।

पुनः **श्री जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति** में अवसर्पिणी काल के पहले आरे का वर्णन करते हुए कहा है कि–

''घने जंगलों, वृक्षों, फूल-फलों से सुशोभित, सारस-हंस आदि जानवरों से भरपूर, ऐसी बावड़ियों तथा पुष्करिणी और दीर्घिकाओं से श्री जंबूद्वीप की शोभा हो रही है ।''

सोचो कि पहले आरे में ये बावड़ियाँ आदि कहाँ से आईं ? इस भरतक्षेत्र में नौ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से तो युगलिक रहते थे । युगलिक तो बावड़ियाँ आदि बनाते नहीं हैं, अतः यदि वे शाश्वत नहीं हैं, तो फिर उन्हें किसने बनाया ?

जिस प्रकार ये बावड़ियाँ असंख्य वर्षों से कायम रहीं तो फिर देवताओं की सहायता से मूर्तियाँ भी कायम कैसे न रहें ?

प्रश्न 115 :– चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

उत्तर :– श्री सुधर्मास्वामी के परम्परागत आचार्यों ने **'चैत्य'** शब्द का जो अर्थ लिखा है वह भगवान महावीर द्वारा कथित है । परम उपकारी कालिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य** ने अपने, **'अनेकार्थसंग्रह'** में इस प्रकार अर्थ किया है ।

'चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबं, चैत्यो जिनसभातरु ।'

अर्थ–चैत्य कहने से (1) जिनमन्दिर (2) जिनप्रतिमा (3) जिनराज की सभा का चौंतराबंध वृक्ष ।

इसके सिवाय दूसरा अर्थ शास्त्र में नहीं है तथा होता भी नहीं । अमरकोश अथवा अन्य कोई भी कोशग्रन्थ देखो, उनमें इसके सिवाय दूसरा अर्थ नहीं कहा है । अतः इसके सिवाय मनगढ़न्त अर्थ करने वालों को झूठा समझना चाहिये । सूत्रपाठों में जहाँ जहाँ उस शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ दूसरा अर्थ लागू हो ही नहीं सकता ।

प्रश्न 116 :– 'चैत्य' शब्द का अर्थ कितने ही 'साधु' अथवा 'ज्ञान' करते हैं । क्या यह उचित है ?

उत्तर :– 'चैत्य' का अर्थ **'साधु'** या **'ज्ञान'** किसी प्रकार नहीं हो सकता तथा शास्त्र के सम्बन्ध में वह अर्थ उपर्युक्त भी नहीं । साधु की जगह तमाम सूत्रों में

''साहु वा साहुणी वा'' ''भिक्खु वा भिक्खुणी वा''

ऐसा कहा है, पर–

''चैत्यं वा चैत्यानि वा ।''

ऐसा तो कहीं भी नहीं कहा है तथा भगवान श्री महावीर स्वामी के चौदह हजार साधु थे, ऐसा कहा है, पर **'चौदह हजार चैत्य थे',** ऐसा नहीं कहा । इस प्रकार अन्य सभी तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों आदि के **'इतने हजार साधु थे',** ऐसा कहा है पर **'चैत्य थे'** ऐसा शब्द कही भी जाहेर नहीं है ।

तथा चैत्य शब्द का अर्थ **'साधु'** करें तो साध्वी के लिए नारी जाति में कौनसा शब्द उसमें से निकल सकेगा । कारण कि चैत्य शब्द स्त्रीलिंग में बोला नहीं जाता ।

श्री भगवती सूत्र में (1) अरिहन्त, (2) साधु और (3) चैत्य ऐसे तीन शरण कहे हैं । वहाँ जो **'चैत्य'** शब्द का अर्थ **'साधु'** करें तो उसमें **'साधु'** शब्द अलग से क्यों कहा ? तथा ज्ञान कहें तो अरिहन्त शब्द से ज्ञान का संग्रह हो गया, क्योंकि ज्ञान रूपरहित है, वह ज्ञानी के सिवाय होता नहीं इसलिये चैत्य से जिनप्रतिमा का ही अर्थ निकलता है । **''अरिहन्त''** ऐसा अर्थ भी संभव नहीं क्योंकि–**''अरिहन्त''** भी प्रथम साक्षात् शब्द में कहा हुआ है ।

'चैत्य' शब्द का अर्थ **'ज्ञान'** करना, यह भी सर्वथा असत्य है क्योंकि **श्री नंदीसूत्रादि** में जहाँ-जहाँ पाँच प्रकार के ज्ञान का अधिकार है वहाँ-वहाँ –

''नाणं पंचविंह पण्णत्तं ।''

ऐसा कहा है पर–

''चेइयं पंचविंह पण्णत्तं ।''

ऐसा तो कहीं नहीं लिखा । तथा उसका नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा केवलज्ञान कहा है पर मतिचैत्य, श्रुतचैत्य अथवा

केवलचैत्य इत्यादि किसी जगह नहीं लिखा तथा उस ज्ञान के स्वामी को मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी इत्यादि शब्दों से परिचित करवाया है न कि मतिचैत्यी, श्रुतचैत्यी अथवा केवलचैत्यी शब्दों से । किसी को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसे **'जातिस्मरणज्ञान'** हुआ, ऐसा कहा है पर **'जातिस्मरणचैत्य'** उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं लिखा ।

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण-विद्याचारण मुनियों के अधिकार में **'चेइयाइ'** शब्द है तथा दूसरे बहुत से स्थानों पर वह शब्द प्रयुक्त हुआ है । उसका अर्थ यदि ज्ञान करते हैं तो ज्ञान तो एकवचन में है जबकि **'चेइयाइं'** बहुवचन में है । अतः वह अर्थ गलत है । पुनः श्री नंदीश्वरद्वीप में अरूपी ज्ञान का ध्यान करने के लिए जाने की क्या जरूरत है ? अपने स्थान पर बैठे हुए वह ध्यान हो सकता है अतः वहाँ प्रतिमाओं से ही तात्पर्य है ।

अब चैत्य का अर्थ साधु अथवा ज्ञान करने वाले भी कई जगह प्रतिमा का अर्थ करते हैं । उनके थोड़े से द्रष्टान्त –

(1) श्री प्रश्नव्याकरण के आस्रव द्वार में चैत्य शब्द का अर्थ **'मूर्ति'** किया है ।

(2) श्री उववाई सूत्र में 'पुण्यभद्दग चेइए होत्था ।' यहाँ चैत्य का अर्थ मन्दिर और मूर्ति कहा गया है ।

(3) श्री उववाई सूत्र में 'बहवे अरिहन्त चेइयाइं ।' यहाँ भी मन्दिर और मूर्ति का अर्थ कहा गया है ।

(4) श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री व्यवहार सूत्र की चूलिका में द्रव्यलिंगी **''चैत्य स्थापना''** करने लग जायेंगे, वहाँ **''मूर्ति की स्थापना''** करने लग जायेंगे, ऐसा अर्थ किया गया है ।

(5) श्री ज्ञाता सूत्र, श्री उपासकदशांग सूत्र, श्री विपाक सूत्र में **'पुण्याभद्र चेइए ।'** कहकर पूर्णभद्रयक्ष की मूर्ति व मन्दिर का अर्थ कहा गया है ।

(6) अंतगडदशांग सूत्र में भी जहाँ यक्ष का चैत्य कहा गया है, वहाँ उसका भावार्थ मन्दिर या मूर्ति बताया है ।

प्रश्न 117 :– कौनसे सूत्र में तीर्थयात्रा का विधान है ? और उससे क्या लाभ होता है ?

उत्तर :– तीर्थ दो प्रकार के हैं । **(1) जंगम तीर्थ –** यानी चतुर्विध संघ और **(2) स्थावर तीर्थ–**यानी श्री शत्रुंजय, गिरनार, नन्दीश्वर, अष्टापद, आबू, सम्मेतशिखर आदि–जिनकी यात्रा जंघाचारण मुनिवर भी करते हैं, ऐसा **श्री भगवतीजी सूत्र** में फरमाया है । श्री गौतमस्वामीजी भी अष्टापद पर गये थे ।

कर्मशत्रु को जीतने वाला, ऐसा जो शत्रुंजय पर्वत है, वहाँ से अनन्त जीव मोक्ष में गये हैं, ऐसा **श्री ज्ञाता सूत्र** में कहा गया है ।

श्री आचारांग सूत्र में दूसरे श्रुतस्कन्ध में निम्नांकित तीर्थभूमि बताई है–

जम्माभियेस-निक्खमण-चरणुप्पायनिव्वाणे ।
दियलोअभवएमंदरनंदीसरभोमनरेसु ।।1।।

अट्ठावयमुज्जिंते गयग्गपयए व धम्मचक्के य ।
पासरहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ।।2।।

``तीर्थंकरदेव के जन्माभिषेक की भूमि, दीक्षा लेने की भूमि, केवलज्ञान उत्पत्ति की भूमि, निर्वाण-भूमि, देवलोक के सिद्धायतन, भुवनपतियों के सिद्धायतन, नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धायतन, ज्योतिषी देवविमानों के सिद्धायतन, अष्टापद, गिरनार, गजपद तीर्थ, धर्मचक्र तीर्थ, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के सर्वतीर्थ, जहाँ श्री महावीर स्वामी काउसग्ग में रहे, वह तीर्थ, इन सबकी मैं वन्दना करता हूँ ।''

श्री भद्रबाहुस्वामी श्री आवश्यक निर्युक्ति में फरमाते हैं कि श्री तीर्थंकर देवों का जहाँ जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण निश्चित रूप से हुआ हो, उस भूमि के स्पर्श से सम्यक्त्व दृढ़ होता है ।

श्री महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य, अवधिज्ञान को धारण करने वाले **श्री धर्मदासगणी श्री उपदेशमाला प्रकरण** में कहते हैं कि–श्रावक जिनराज के पाँचों कल्याणकों के स्थान पर यात्रा के लिये जावें । स्थावर तीर्थ की यात्रा से अन्तःकरण की शुद्धि होती है ।

श्री महाकल्प सूत्र में तीर्थयात्रा के उत्तम फल का वर्णन है । यद्यपि अपने रहने के स्थान पर भी मन्दिर होते हैं, पर तीर्थयात्रा में उसकी अपेक्षा विशेष लाभ होता है क्योंकि घर पर तो व्यापार, रोजगार, सगे-सम्बन्धी आदि की चिन्ताएँ रुकावट डालती हैं । पूरा दिन उसी के संकल्प-विकल्प में रहने से धर्मध्यान में चित्त स्थिर नहीं रह सकता, परन्तु घर छोड़ने के पश्चात् ये सब उपद्रव दूर हो जाते हैं तथा साथ में अन्य साधर्मिक बन्धु होने से उनके साथ धार्मिक चर्चा से मन प्रफुल्लित होता है, शास्त्र का ज्ञान मिलता है, मार्ग में अनेक गाँव व शहर पड़ते हैं, जहाँ उत्तम साधुजनों तथा सुज्ञ श्रावकों का सम्पर्क मिलने से नवीन शिक्षा तथा बोध की प्राप्ति होती है ।

तीर्थभूमि में ऐसे अनेक सज्जनों से मिलने का लाभ होता है तथा उनके समीप रहने से बहुत फायदा होता है । घर पर ऐसे महात्मा व उत्तम पुरुषों का समागम कदाचित् ही मिल पाता है और समयाभाव होने से उनसे विशेष लाभ भी नहीं लिया जा सकता ।

तीर्थभूमि पर श्री तीर्थंकर, श्री गणधर तथा अन्य उत्तमोत्तम व्यक्तियों का निर्वाण हुआ है अतः वे याद आते हैं और उनके गुणानुवाद करने के उत्तम प्रसंग मिलता है । यह बुद्धि निर्मल होने का एक विशेष साधन है तथा पूज्य पुरुष जिस राह पर चलकर गुणवान हुए, उस राह पर चलने की हमारी भी इच्छा होती है । उस समय संसार असार सा लगता है तथा उससे विरक्त होकर मन आत्मचिन्तन करता है, परभाव में रमण करने की इच्छा नहीं होती । आत्मिक गुणों को प्रगट करने के अनेक साधन प्राप्त होने से उसमें प्रयत्नशील बना जा सकता है ।

जिस-जिस प्रकार से आत्मविशुद्धि हो सकती है, उन सब उपायों को जुटाने का बहुमूल्य अवसर मिलता है । कितने ही ध्यान-प्रिय लोग पहाड़ की गुफाओं में जाकर, एकान्त में बैठकर आत्मा तथा जड़ के विभाग तथा दोनों में रहने वाली भिन्नता का विचार करते हैं, धर्मध्यान में तल्लीन बनते हैं और शुक्लध्यानादि किया जा सके, उसके लिए अभ्यास करते हैं ।

अधिक शुद्धि का दूसरा कारण भी यह है कि उत्तम मनुष्यों के शरीर के पुद्गल-परमाणु वहाँ फैले हुए हैं । वे सब उत्तम होते हैं । जब भी क्षपक श्रेणी करने की इच्छा हो तब वज्रऋषभनाराच संघयण की परम आवश्यकता है । उसके बिना उत्तम ध्यान हो ही नहीं सकता । इससे पुद्गल की सहायता भी आवश्यक है ।

जिन व्यक्तियों की मुक्ति निकट में होती है, ऐसे उत्तम पुरुषों के शरीर में ध्यान को पुष्ट करने वाले पुद्गल एकत्र हो चुके होते हैं । अब वे तो निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु उनके वे पुद्गल उनकी निर्वाणभूमि में बिखरे हुए होते हैं । वहाँ अधिकतर अच्छे पुद्गलों का ही समूह होता है और वे अपने में प्रवेश कर जाते हैं । यद्यपि बहुत समय बीत गया है, फिर भी वे सभी पुद्गल नष्ट नहीं होते ।

ऐसे पवित्र स्थान पर पुण्यवान स्त्री-पुरुषों के ऐसे निर्मल पुद्गलों के स्पर्श से बुद्धि कितनी निर्मल होती होगी, इसका अनुमान अनुभव बिना नहीं लगाया जा सकता । हो सकता है, दुर्भागी मनुष्य को वहाँ अच्छे के बदले खराब पुद्गलों का स्पर्श हो जाय, तो यह उनके कर्म का ही दोष है । मुख्य रूप से तो वहाँ उत्तम पुद्गलों का ही सद्भाव है । इस प्रकार घर की अपेक्षा तीर्थयात्रा में कई गुणा लाभ प्राप्त होता है और धर्मध्यान निर्विघ्न एवं सुगम बन जाता है ।

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 243 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	41.	संस्मरण	50/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	42.	भव आलोचना	10/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	43.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	44.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	45.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
7.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	48.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
9.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	49.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
10.	विविध-तपमाला	100/-	50.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
11.	विवेकी बनो	90/-	51.	नमस्कार मीमांसा	150/-
12.	प्रवचन-वर्षा	60/-	52.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
13.	आओ श्रावक बनें !	25/-	53.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
14.	व्यसन-मुक्ति	100/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
15.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	55.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	56.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	57.	वैराग्य-वाणी	140/-
18.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	58.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
19.	समाधि मृत्यु	80/-	59.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
20.	Pearls of Preaching	60/-	60.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
21.	New Message for a New Day	600/-	61.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
22.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	62.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
23.	अमृत रस का प्याला	300/-	63.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
24.	ध्यान साधना	40/-	64.	मन के जीते जीत है	80/-
25.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	65.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
26.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	66.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
27.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	67.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
28.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	68.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
29.	जीव विचार विवेचन	100/-	69.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
30.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	70.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
31.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	71.	वैराग्य-शतक	140/-
32.	लघु संग्रहणी	140/-	72.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
33.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-	73.	धर्म-बीज	140/-
34.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-	74.	45 आगम परिचय	200/-
35.	दूसरा कर्मग्रंथ	55/-	75.	चौथा कर्मग्रंथ	140/-
36.	गणधर-संवाद	80/-	76.	पाँचवाँ-कर्मग्रन्थ	160/-
37.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-	77.	नित्य देववंदन	निशुल्क
38.	मोक्ष मार्ग के कदम	120/-	78.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
39.	विविध देववंदन	100/-	79.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
40.	समाधि मृत्यु	50/-	80.	तीसरा-कर्मग्रन्थ	90/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299